स्वामी चिदानन्द

संयम साधना

दिव्य जीवन सङ्घ प्रकाशन

श्री स्वामी चिदानन्द

: सङ्कलनकार तथा सम्पादक :

स्वामी अशेषानन्द सरस्वती

: प्रकाशक :

दिव्य जीवन सङ्घ,

पो० शिवानन्दनगर, वाया—ऋषिकेश,

जिला—टिहरी-गढ़वाल (उ० प्र०), हिमालय

मूल्य] १९७९ [रु० ४-००
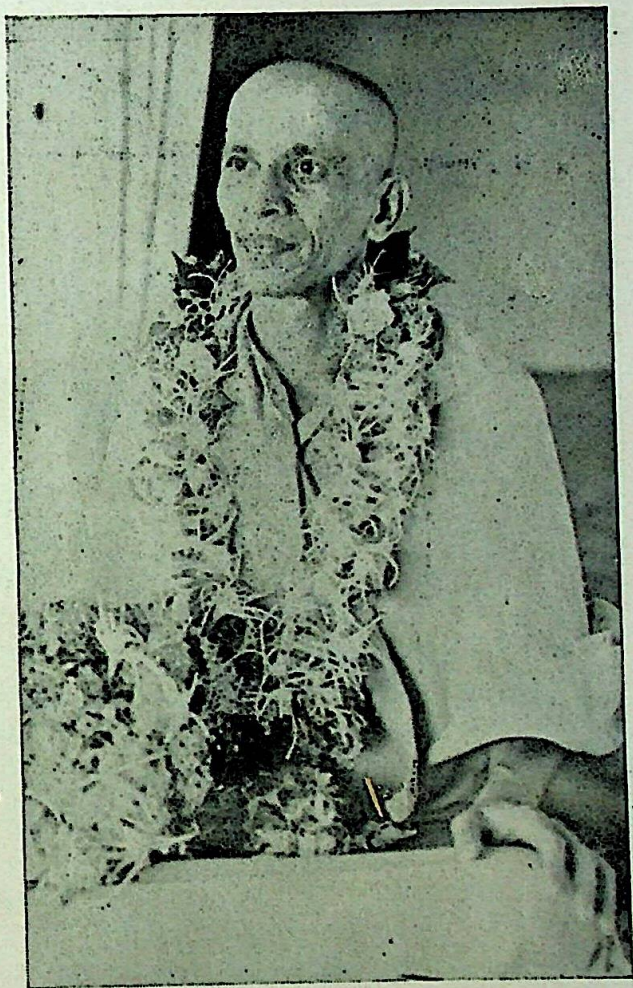
स्वामी चिदानन्द

आमुख

गुरुदेव श्री स्वामी चिदानन्द जी महाराज के सान्निध्य में निवास तथा भ्रमण का कभी-कभी अवसर मिला; उसी बीच उनके उपदेशों का सार लिपिबद्ध करता रहा। प्रस्तुत पुस्तक उन्हीं उपदेशों का सङ्कलित सार है।

गुरुदेव के उपदेश वर्त्तमान युग की समस्याओं के समाधान के लिए 'राम-बाण' हैं; जीवन की जटिलतम समस्याओं का हल उनमें निहित है।

प्रत्येक साधक को साधना में आने वाली कठिनाइयों से पूर्व परिचित रहना चाहिए तथा उनके हल खोज लेने चाहिए। महाराजश्री ने बड़ी सरलता से तथा सरल भाषा में उन्हें प्रस्तुत किया है; अतः साधक-वर्ग को विशेष रूप से इन्हें जानना तथा समझना चाहिए।

साधकों के हित के लिए उन्हीं को सादर समर्पित।

—स्वामी अशेषानन्द सरस्वती

२ अक्तूबर, ७८

विषय-सूची

परिशिष्ट

आध्यात्मिक प्रगति हेतु साधना-सङ्केत

१—वाह्य शत्रुओं से भयभीत मत होइए। अहङ्कार, मद, काम, क्रोध, लोभ, मोह और स्वार्थ आपके वास्तविक शत्रु हैं।

२—जितनी शक्ति आप दूसरों के उत्थान में लगायेंगे, उतनी ही अधिक दिव्य शक्ति आपके भीतर प्रवाहित होगी।

३—प्रारम्भ में संयम, आत्म-परित्याग तथा धारणा के अभ्यास बहुत अधिक अरुचिकर तथा शुष्क प्रतीत होंगे। यदि आप इनमें शान्तिपूर्वक संलग्न रहें तो आपको इसके द्वारा बल, शान्ति, नया ओज और आनन्द की प्राप्ति होगी।

४—यदि आप सच्चे और ईमानदार हैं, यदि आप सदैव सामान्य बुद्धि को प्रयुक्त करते हैं तथा धैर्यवान् और निरन्तर प्रयत्नशील हैं तो आप लक्ष्य की प्राप्ति शीघ्र ही कर लेंगे।

५—सफलता आपको अवश्य मिलेगी; क्योंकि आपने इसीलिए जीवन धारण किया है। आप अपने उत्तराधिकार का विस्मरण कर चुके हैं। अभी अपने जन्मसिद्ध अधिकार की माँग करें।

पाठको ! यही सन्देश है ! यही जाग्रति का उद्घोष है ! यह आप पर निर्भर करता है कि अब आप माँगें, खोजें और खटखटाएँ। जो चाहिए वह यहीं है। केवल प्राप्ति की इच्छा की अपेक्षा है। आओ ! कुछ समय के लिए बातें बन्द कर दें। भगवान् आपको कार्य करने की प्रेरणा दे !

ॐ

हे प्रभो ! बनाओ मुझे अपनी दिव्य शान्ति का सोपान,

जहाँ द्वेष है वहाँ मैं प्रेम ले आऊँ,
जहाँ हिंसा है वहाँ मैं क्षमा ले आऊँ,
जहाँ सङ्घर्ष है वहाँ मैं एकता लाऊँ,
जहाँ संशय है वहाँ मैं नवीन आशा लाऊँ,
जहाँ निराशा है वहाँ मैं श्रद्धा विश्वास ले आऊँ,
जहाँ अन्धकार है वहाँ प्रकाश लाऊँ,
जहाँ शोक है वहाँ मैं हर्ष पहुँचाऊँ,

अपने स्वार्थ के नाश द्वारा मैं पराये सुख का कारण बनूँ—
यही तेरे चरणों में प्रार्थना है।

—सन्त फ्रांसिस असीसी
(अनु० : स्वामी चिदानन्द)

संयम-साधना

१. आहार की मर्यादाएँ

आज एकादशी है। बड़ा शुभ दिन है। हमारे ऋषि-मुनियों ने इस दिन व्रत रखने का विधान किया है। व्रत का अर्थ है संयम। इस दिन ईश्वर से तादात्म्य जोड़ने का विशेष प्रयत्न किया जाना चाहिए। न शरीर के अन्दर कुछ डालना अर्थात् भोजन करना तथा न कुछ बाहर निकालना अर्थात् बोलना चाहिए। मौन रहकर, उपवास करके दिनभर स्वाध्याय, जप तथा ईश्वर-चिन्तन में लीन रहना चाहिए।

बहुत से लोग एकादशी के दिन उपवास तो रखते हैं, किन्तु वे फलाहार के नाम से हमेशा से भी अधिक पेट भर लेते हैं। उनके लिए यह दिन एक भिन्न प्रकार के स्वादिष्ट भोजन की व्यवस्था करने का दिन होता है। प्रातःकाल से दोपहर तक का पूरा समय भोजन की तैयारी में निकल जाता है तथा सन्ध्या तक फिर भोजन करने में तथा उसकी चर्चा में चला जाता है।

निराहार रहने से इन्द्रियाँ शान्त रहती हैं। मन की चञ्चलता कम हो जाती है। स्वाध्याय, जप तथा ध्यान के लिए समय मिल जाता है तथा उसमें मन लगने लगता है। उससे शरीर के विकार दूर होते हैं तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से भी बड़ा लाभ होता है।

"युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।"

(गीता : ६-१७)

—अर्थात् दुःखों का नाश करने वाला योग सम्यक् आहार तथा विहार करने वालों का, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वालों का तथा परिमित शयन करने एवं जागने वालों का हीं सिद्ध होता है।

यदि आहार-विहार शुद्ध होगा, संयमित होगा तो उसके अनुरूप ही विचार बनेंगे। विचार ही हमारे कर्मों की भूमिका हैं। जैसा विचार होगा वैसा ही कर्म होगा। विचारों को स्वाध्याय, सत्सङ्ग तथा चिन्तन बहुत प्रभावित करते हैं। जो विचार मन में पनपते रहते हैं, वे ही संस्कार का रूप ले लेते हैं और आगे चल कर व्यक्ति की आदत में बदल जाते हैं। आदतों से ही व्यक्ति का व्यक्तित्व बनता है। व्यक्ति 'आदतों का दास' कहा गया है।

प्रातःकालीन आहार का व्यक्ति के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। तामसिक आहार व्यक्ति को क्रूर, आलसी तथा ईर्षालु बनाता है। राजसिक आहार मानव को क्रोध तथा राग-द्वेष से भर देता है। इसी प्रकार सात्त्विक आहार ही व्यक्ति के हृदय को शुद्ध, निर्मल तथा अन्य सात्त्विक गुणों से पूर्ण करता है।

सभी संयम—चाहे भोजन में, दृष्टि में अथवा वाणी में हों—किसी-न-किसी प्रकार के निरोध हैं। अर्थात् शक्तियों को नष्ट न करके उन्हें सञ्चित करना तथा उनका जीवन के

आध्यात्मिक तथा पारलौकिक क्षेत्र में उपयोग करना ही संयम का प्रयोजन बताया गया है।

यह शरीर अनेक पूर्व-जन्मों की अनेक योनियों के पश्चात् इस मानव-देह को ग्रहण करता है। वे सब संस्कार भी उसमें सुषुप्ति अवस्था में रहते हैं। अतः बन्धनों के उन निकृष्ट संस्कारों को काटने तथा छोड़ने के लिए 'संयम' एक 'रामबाण' है। संयम का प्रभाव धीरे-धीरे पड़ता है, किन्तु उसका परिणाम निश्चित तथा सात्त्विक है।

हमारा प्रत्येक कर्म दिव्य होना चाहिए। उसमें आध्यात्मिकता, नैतिकता तथा मानवता होनी चाहिए। दिव्य विचार मुक्तिदायक है, आनन्ददायक है। सच्चा आनन्द सेवा तथा त्याग से मिलता है। भूखे को खिलाने, निर्वस्त्र को वस्त्र देने में ही सुख प्राप्त होता है। संग्रह तो दुःख का मूल है। अनध्यात्मवाद ही दुःख का कारण है। अतः मन, वचन तथा कर्म—तीनों से ही दिव्यता की ओर अग्रसर होना चाहिए।

हमारे जो कर्म हमें दिव्यता तथा सत्य की ओर बढ़ाते हैं, उन्हीं को हम साधना कहते हैं। जीवन में साधना तथा संयम का घनिष्ट सम्बन्ध है। असंयमी व्यक्ति अच्छा साधक नहीं बन सकता तथा अच्छा साधक असंयमी नहीं हो सकता।

आप सभी संयम से रहना सीखें तथा अच्छे साधक बनें और माँ जी का आशीर्वाद प्राप्त कर अपना जीवन सफल बनाएँ ! यही मेरी हार्दिक कामना है।

[६-११-७३ को वृन्दावन में श्री श्री माँ के संयम-सप्ताह में दिया गया प्रवचन।]

२. परमात्मा के अनुग्रह

मैंने यह कल्पना भी नहीं की थी कि श्री माँ के इस संयम-सप्ताह में मैं वक्ता के रूप में यहाँ आऊँगा और आप सभी मेरे श्रोता रहेंगे। मैं तो स्वयं कुछ सीखने यहाँ आया हूँ। फिर भी माँ की आज्ञा है, अतः जो-कुछ शब्द कहूँगा, वह कोई उपदेश नहीं है, वरन् अनुभूति है जिसे आपके सम्मुख रखूँगा।

यह सप्ताह आप सभी को प्रभु की कृपा, उनके अनुग्रह तथा अमूल्य पुरस्कार के रूप में प्राप्त हुआ है। भगवान् का अनुग्रह प्रथमतः तो मानव-जन्म देने में ही है। न जाने कितनी योनियों के वाद यह मानव-जन्म मिलता है। इस जन्म को 'सुर-दुर्लभ' जन्म कहते हैं। मोक्ष-प्राप्ति इसी योनि में सम्भव हो सकती है। देव-योनि में जाकर जब मानव के पुण्य क्षय हो जाते हैं, तब वह नीचे धरती पर, इस मृत्यु लोक में धकेल दिया जाता है। वह पुनः मानव-शरीर प्राप्त करता है। हव इसी योनि में साधन-भजन, ईश्वर-चिन्तन से मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

प्रभु का दूसरा अनुग्रह है—मुमुक्षु वनाना। आप सभी, देश-विदेश से साधक यहाँ एकत्रित हुए हैं। आप सभी ने धन व्यय किया है, समय का व्यय किया है तथा शक्ति भी लगायी है,

तब कहीं यहाँ पहुँचे हैं। इससे स्पष्ट है कि आप लोग मुमुक्षु हैं जो कि श्री माँ के इस 'संयम-सप्ताह' में नियम से, संयम से रहने के लिए, कष्ट सहने के लिए तैयार होकर आये हैं। आप सब अपने लक्ष्य की खोज करने, उसे प्राप्त करने का उपाय ज्ञात करने यहाँ एकत्रित हुए हैं। आप सभी में तीव्र जिज्ञासा है।

भगवान् का प्रमुख और अन्तिम अनुग्रह है—सन्त-मिलन, सन्त-दर्शन तथा सत्सङ्ग। संयम तो घर पर रह कर गुरु के बताये मार्ग से भी सम्भव हो सकता है, किन्तु श्री माँ ने आपको यह अमूल्य अवसर भी प्रदान कर दिया। मुझे भी अनायास यह अनुग्रह प्राप्त हो गया। सन्तों के दर्शन बड़े भाग्य से प्राप्त होते हैं। यहाँ अनेक उच्च कोटि के सन्त महानुभाव उपस्थित हैं। वे सभी आपको उपदेश देंगे। जीवन का तो एक ही लक्ष्य है—आत्मसाक्षात्कार; किन्तु वहाँ तक पहुँचने के अनेक रास्ते हैं, बहुत-सी पगडण्डियाँ हैं, कुछ राजपथ भी हैं। साधक अपनी शक्ति, सामर्थ्य तथा सूझ-बूझ के अनुसार उसी अनुपात से देर-सवेर पहुँच सकता है।

सन्त-महात्मा सदा एक ही उपदेश करते हैं। उनके उपदेशों में वही शाश्वत सिद्धान्त हैं जिन पर हमारा धर्म, हमारी संस्कृति आधारित है; किन्तु हम अपनी भेदबुद्धि के कारण उनमें अन्तर कर लेते हैं। हमारे मन का अन्तर, हमारे विचारों का अन्तर संसार में सभी स्थानों पर अन्तर उत्पन्न कर देता है। अतः हम महात्माओं, सन्तों की वाणी में जो अन्तर देखते हैं, वह स्वयं हमारे द्वारा ही निर्मित है।

यह सम्भव है कि कभी-कभी गुरु, सन्त-महात्मा अधिकारी-भेद से विभिन्न साधकों को भिन्न-भिन्न मार्ग, भिन्न-भिन्न

साधना की सम्मति देते हों; किन्तु वे सभी एक ही लक्ष्य पर पहुँचने के भिन्न मार्ग मात्र हैं।

ईश्वर का अनुग्रह अन्य लघु रूपों में भी सदा प्राप्त होता रहता है। कभी वह स्वास्थ्य के रूप में, कभी वह सुख तथा शान्ति के रूप में, धन-ऐश्वर्य के रूप में तथा सन्तान के रूप में भी प्राप्त होता है अर्थात् अपनी-अपनी कल्पना, आवश्यकता तथा परिस्थितियों के अनुरूप सभी व्यक्ति उसे प्राप्त करते हैं।

जीवन में दुःख-सुख दोनों ही रहते हैं। जन्म-मृत्यु, जरा तथा व्याधि से मनुष्य सदा पीड़ित रहता है। उसकी निवृत्ति का उपाय खोजना है। साथ ही वह आनन्द की खोज में भी लगा है। तापत्रय जीव को बाँधता है। जीव का निज-स्वरूप नित्य, शुद्ध, बुद्ध आत्मा है, अतः वह अपने स्वरूप को प्राप्त कर मुक्त होना चाहता है। मनुष्य इसी दुःख-सुख की भँवरों में डूबता-उतराता रहता है।

इन सात दिनों में—'संयम-सप्ताह' में आप स्वयं के पुराने जीवन को एकदम भुला दीजिए। अपने नाम-रूप की चिन्ता, उसका ज्ञान बिलकुल मिटा दीजिए। वे समस्त वस्तुएँ त्याग दीजिए जो बन्धन का कारण हैं; आपको उस ओर बढ़ना है, उसे ग्रहण करना है जो मुक्ति की ओर प्रेरित करता है। अपनी बहिर्मुख इन्द्रियों को अन्तर्मुख कीजिए। संयम से, नियम से रहिए।

जब सात दिन बाद आप घर लौटेंगे तब आप एक नये व्यक्ति होंगे। आप के दृष्टिकोण में परिवर्त्तन होगा। आपके

जीवन में प्रसन्नता, स्फूर्त्ति तथा नवीन चेतना होगी; एक दिशा होगी जिस पर आप चलते रह सकेंगे।

बचपन में बालक आत्मस्वरूप, दिव्यस्वरूप होता है। उसके माता-पिता, स्वजन-सम्बन्धी उसे इन क्षणभङ्गुर, नाशवान् नाम-रूप के साथ ऐसा जोड़ देते हैं कि वह बड़ा होकर अपने निज-स्वरूप को बिलकुल भूल ही जाता है। वह संसार के जाल में इस तरह उलझ जाता है कि फिर वह उलझी ग्रन्थियों को जीवन पर्यन्त सुलझा नहीं पाता।

शरीर, मन और बुद्धि को ही वह अपना स्वरूप मान बैठता है। देहाध्यास के कारण वह अपनी इन्द्रियों का दास बन जाता है तथा इन्द्रिय-सुखों को भोगने की धुन में, खोज में निरन्तर भटकता रहता है तथा ईश्वर से विमुख हो जाता है।

हमारा प्रत्येक क्षण ईश्वर की खोज में लगना चाहिए। हमारा प्रत्येक कार्य ईश्वर-प्रेरित तथा ईश्वर की सेवा में समर्पित होना चाहिए। हमारी समस्त इन्द्रियों को प्रत्येक दृश्य में ईश्वर का ही दर्शन करना चाहिए, उसके रूप, उसकी शक्ति, उसकी उपस्थिति का अनुभव करना चाहिए।

इस प्रकार का जीवन दिव्य जीवन होगा। वह जीवन होगा जिसमें तापत्रय का कष्ट नहीं होगा। जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि उसे प्रभावित नहीं कर सकेंगी। आप सदा परमानन्द, परम शान्ति का अनुभव करेंगे तथा सदा-सदा के लिए ईश्वर में ही निवास करेंगे।

मैं ईश्वर के चरणों में यह प्रार्थना करता हूँ कि इस

'संयम-सप्ताह' के माध्यम से आप अपने जीवन में सुख, शान्ति तथा आध्यात्मिक समृद्धि प्राप्त करें।

[५-११-७३ को वृन्दावन में पूज्य श्री श्री माँ के 'संयम-सप्ताह' में दिया गया प्रवचन।]

३. साधकों को सन्देश

हिमालय के आँचल में, उत्तराखण्ड की तपोभूमि में, माँ गङ्गा के तट पर स्थित गुरुदेव स्वामी शिवानन्द जी महाराज के इस पावन आश्रम में आज आप सबका स्वागत करके मैं अपने सौभाग्य का अनुभव कर रहा हूँ। 'आराधना-सप्ताह' आप सभी को नयी दिशा दे, नवीन स्फूर्त्ति दे तथा आशा की नव-किरण के रूप में ज्योति प्रदान करे !

इसे ईश्वर की अहेतुकी कृपा ही मानना चाहिए कि आप यहाँ साधक के रूप में एकत्रित हुए हैं। कलियुग में साधक होना अति-दुर्लभ है। अधिकांश लोग शारीरिक स्तर पर लौकिक, सांसारिक भोगों को भोगते ही यह अमूल्य जीवन नष्ट कर रहे हैं। वे भोगों को भोगना ही अपने जीवन का लक्ष्य मान रहे हैं। उनके मन में भगवतोन्मुख होने की कामना, आत्म-साक्षात्कार करने की अभिलाषा जाग्रत ही नहीं होती। कैसी विडम्बना है !

आप सब साधक हैं, जिज्ञासु हैं, आप में मुमुक्षुत्व है। अतः आप सभी पर ईश्वर की विशेष कृपा है—अनुग्रह है; इसका अनुभव सदा करते रहना चाहिए। इस अहेतुकी कृपा को पूर्वजन्म का पुण्य ही मानना चाहिए। इस प्रकार का जीवन

दीपक जैसा है जो स्वयं तो जलता है, किन्तु दूसरों को प्रकाश देता है। साधक स्वयं तो संयम से रहता है, किन्तु उसका प्रभाव दूर-दूर तक पड़ता है। जैसे चन्दन का एक वृक्ष समस्त वन को सुगन्धित कर देता है, उसी प्रकार आप सभी अपने-अपने क्षेत्रों में साधना की, आध्यात्मिकता की सुगन्ध बिखेर रहे हैं।

साधनामय जीवन ही दिव्य जीवन है। यह देखने में कण्टकाकीर्ण पथ है, किन्तु इस पर पुष्प भी बिखरे हैं। जैसे गुलाब के पौधे में काँटे लगे हैं, किन्तु गुलाब भी अपनी सुगन्ध तथा सौन्दर्य लुटा रहा है; जैसे कङ्करीले रास्ते में रत्न बिखरे हों तो पथिक की दृष्टि सदा रत्नों को समेटने में ही लगी रहेगी। इसी प्रकार साधक को यह मान कर चलना चाहिए कि साधन-पथ में कठिनाइयाँ भी आती हैं; अतः उनसे डरने की, विचलित होने की उसे आवश्यकता नहीं है।

आज गुरुपूर्णिमा के पवित्र पूर्व प्रभात में आप सभी गुरुदेव के पावन आश्रम में एकत्रित हैं—इस पर तनिक विचार करें। इस आश्रम में अनेक साधक हैं; किन्तु यह सौभाग्य केवल चुने हुए आप लोगों को ही प्राप्त हुआ है जो कि इस 'आराधना-सप्ताह' में सक्रिय रूप से सम्मिलित हो रहे हैं। आप साधारण साधक नहीं हैं, विशिष्ट साधक हैं।

अतः आप जैसे चुने हुए विशेष साधकों से यह अपेक्षा की जाती है तथा आपका स्वतः यह कर्त्तव्य हो जाता है कि आपका व्यवहार, आचरण विशेष प्रकार का हो। आपके मन और वाणी में विशेषता हो तथा आपके मन, वचन तथा कर्म में एकरूपता हो, समत्व हो; उसमें सात्त्विकता हो।

यदि आप ऐसा जीवन व्यतीत करेंगे तो आप साधारण व्यक्ति नहीं रहेंगे। आपमें अहं नहीं होगा वरन् सहज, स्वाभाविक रूप से भक्ति करने का भाव होगा। एक वैष्णव महात्मा (आॅरथोडाॅका) अपनी स्वच्छता के विषय में सदा सजग तथा सचेष्ट रहता है। उसमें गर्व नहीं होता वरन् वह उसका उत्तरदायित्व है जो कि स्वभाव का रूप ग्रहण कर लेता है।

साधक एक असाधारण व्यक्ति है, अतः उसे किसी भी साधारण व्यक्ति के साथ अपनी तुलना नहीं करनी चाहिए। उसका एक भिन्न स्थान है, समाज में उसका उच्च स्तर है; क्योंकि उसने अपना दिव्य लक्ष्य निश्चित किया हुआ है जिसे प्राप्त करने के लिए वह निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। उसके पास व्यर्थ में नष्ट करने के लिए समय ही नहीं होना चाहिए।

कभी-कभी सङ्ग-दोष से साधक अपने पथ से भटक सकता है; किन्तु बाद में पश्चात्ताप तथा प्रायश्चित्त करके उसे अपनी भूल स्वीकार कर लेनी चाहिए तथा उसमें सुधार कर लेना चाहिए। 'सवेरे का भूला यदि सन्ध्या को घर आजाय तो वह भूला नहीं कहलाता।'

साधारण मनुष्य की गति अधोमुखी होती है। वह अन्धकार की ओर बढ़ाती है, सांसारिक भोगों की ओर बरबस खींचती है तथा बन्धनों में जकड़ने का प्रयत्न करती है। आपकी गति ऊर्ध्वमुखी होनी चाहिए, प्रकाश की ओर अग्रसर होनी चाहिए, शाश्वत आनन्द प्राप्त कराने वाली, दिव्यता, महानता को प्राप्त कराने वाली तथा मुक्ति प्रदान कराने वाली होनी चाहिए। मन में अशुभ विचारों का प्रवेश सर्वथा वर्जित होना चाहिए।

तमसो मा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्मा अमृतं गमय ।

अशुभ विचारों का प्रवेश वहाँ सम्भव ही नहीं है। प्रकाश के सम्मुख अन्धकार टिक ही नहीं सकता। अमृत में मृत्यु का अस्तित्व ही नहीं है।

लक्ष्य को सामने रखना चाहिए। पथ पर दृढ़ता से तथा सँभाल-सँभाल कर पग धरना चाहिए। 'ईश्वर के यहाँ देर है, अन्धेर नहीं।' आप अपना कार्य करते जाइए। फल की चिन्ता, मत कीजिए। एक क्षण का भी भगवच्चिन्तन व्यर्थ नहीं जाता उसका अपना महत्त्व है, मूल्य है तथा स्थान है।

आपके हृदय में यह भावना होनी चाहिए कि आप ग्रहण कर रहे हैं; ईश्वर आपको निरन्तर दे रहा है। आप अपनी झोली में समेट रहे हैं उसकी अहेतुकी कृपा, दिव्यता तथा अमरत्व। आप व्यष्टि चेतना के रूप में हैं तथा आपको समष्टि चेतना में लय हो जाना है।

आपका यह 'आराधना-सप्ताह' तभी सफल होगा जब आप अपने एक-एक पल को अमूल्य मान कर मन, वचन तथा कर्म से भगवच्चिन्तन में जुटे रहेंगे। सदा आत्मा का ही चिन्तन कीजिए।

[१४-७-७३ के 'साधना-सप्ताह' में साधकों को दिये गये सन्देश का सार।]

४. गुरु-शिष्य-सम्बन्ध

आज गुरुपूर्णिमा का पवित्र दिन है। सनातन धर्म में, हमारी संस्कृति में गुरु-शिष्य का सम्वन्ध केवल संयोग की बात नहीं है तथा वह केवल शारीरिक सम्बन्ध ही नहीं है वरन् पूर्व निश्चित सम्बन्ध है और है **जन्मजन्मान्तरीण**। हम गुरु को त्याग नहीं सकते, बदल नहीं सकते। किसी भी व्यक्ति को गुरु नहीं मान सकते। गुरु सदा जीवित रहता है। उसका शरीर नष्ट हो सकता है, होता है; किन्तु वह आत्मा के रूप में सदा विद्यमान रहता है तथा अपने शिष्य की सहायता करता है। गुरु साक्षात् ईश्वर है। यही कारण है कि यद्यपि गुरुदेव स्वामी शिवानन्द जी महाराज आज शरीर में नहीं हैं, किन्तु फिर भी वे सदा हमारे बीच में विद्यमान हैं। उनकी उपस्थिति का अनुभव पग-पग पर हमें होता रहता है। आप भी वैसा ही अनुभव करते होंगे और कर सकते हैं।

गुरु-शिष्य का मिलन होता है। शिष्य सोचता है कि गुरु से मैं वह प्राप्त करूँगा जो गुरु प्राप्त कर चुका है अर्थात् मुक्ति अथवा अमरता। शिष्य इस आशा से गुरु की शरण जाता है। प्रश्न उठता है कि साधक किस वस्तु से, किस स्थान से अथवा किस व्यक्ति अथवा समाज से मुक्ति चाहता है? क्या ये सभी व्यक्ति को अपनी ओर खींच रहे हैं, पकड़ रहे हैं? धन-दौलत,

प्रासाद, स्त्री-पुत्रादि क्या व्यक्ति को बलपूर्वक, हाथ पकड़ कर बाँध रहे हैं ? तब वह मुक्ति किससे चाहता है ? क्या शरीर-बन्धन से, मन-बन्धन और संसार-बन्धन से मुक्ति चाहता है अथवा कामैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा से ? इसी समस्या को सुलझाने के लिए वह गुरु की शरण जाता है।

यह संसार इतना बुरा नहीं है। ये बन्धन, ये वासनाएँ तथा ये इन्द्रिय-सुख व्यक्ति को स्वयं नहीं पकड़ते। क्या ये बलपूर्वक हमें रोक कर रख सकते हैं? क्या ये वास्तव में इतने प्रभावशाली तथा शक्तिशाली हैं ? नहीं........ नहीं। यह केवल हमारी कल्पना है। ये वासनाएँ, इच्छाएँ शक्तिहीन तथा प्रभावहीन हैं। इनका अस्तित्व ही नहीं है। यह समस्त दृश्य जगत् हमें बाँध नहीं सकता। स्वप्न में जिस प्रकार राजा रङ्क हो जाता है और रङ्क राजा; किन्तु जाग्रत अवस्था में वे अपने स्वरूप को पहचान लेते हैं, उसी प्रकार शिष्य गुरु के निकट जाकर अपने अज्ञानरूपी परदे को हटा लेता है और अपने निजस्वरूप को जान लेता है।

जो बन्धन इस संसार में गृहस्थ के लिए हैं, वे संन्यासी के लिए भी हैं। संन्यासी भी इस संसार में रहता है। किन्तु दोनों में अन्तर है। गृहस्थ जिन्हें बन्धन मान बैठा है—धन, सम्पत्ति, पुत्र आदि को—उन्हें संन्यासी बन्धन के रूप में स्वीकार नहीं करता। इसका कारण उसका मन है। विवेक, विचार और ज्ञान से उसे समझना चाहिए। सांसारिक बन्धन जड़ हैं। वे किसी को कैसे बाँध सकते हैं? अतः व्यक्ति के विचार ही उसे बाँधते हैं। वह स्वयं ही जाल बनाता है और उसमें फँस जाता है। यदि व्यक्ति मुक्ति चाहता है तो उसे अपने विचारों को मुक्त

करना होगा अर्थात् बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख होना पड़ेगा। अन्तर-सागर की गहराइयों में उतरना होगा—तभी उसे मुक्तारूपी मुक्ति प्राप्त हो सकेगी।

अतः साधक को चाहिए कि वह स्वयं में ही मुक्ति की खोज करे। मन ने संसार से जो झूठा सम्बन्ध जोड़ लिया है, उसे वलात् तोड़ना होगा। गुरु तो केवल तुम्हारा तथा संसार का स्वरूप समझा देंगे। ज्ञान के द्वारा मन का बाह्य जगत् से सम्बन्ध तोड़ कर अन्तर्जगत् से तादात्म्य जोड़ लेना ही मुक्ति है। 'मैं' और 'मेरा' निकाल देने से समस्या सुलझ जायगी। जहाँ 'मैं' और 'मेरा' नहीं होता वहाँ सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता। राग-द्वेष मिट जाते हैं।

गुरु शिष्य के सम्मुख ऐसी परस्थितियाँ उत्पन्न कर देता है, ऐसे रहस्यमय ढङ्ग से व्यवहार करता है कि शिष्य का अहं टूट जाता है; 'मैं' और 'मेरा' भाव समाप्त हो जाता है। किन्तु यह सब तभी सम्भव है जब शिष्य अपने गुरु में पूर्ण विश्वास रख कर आत्मसमर्पण कर देगा। जैसे सैनिक युद्ध में सब-कुछ भूल कर केवल देश-सेवा के लिए अपने अधिकारी की आज्ञा पालन करता है—अपने शरीर का मोह छोड़ कर अपने प्राणों की आहुति दे डालता है—तभी उसे 'वीरगति'—मुक्ति प्राप्त होती है।

गुरु पर अविश्वास, उसमें अश्रद्धा ही मृत्यु का, बन्धन का, पीड़ा और कष्टों का कारण है। गुरु पर आश्रित रह कर इसी जीवन में परमानन्द प्राप्त कीजिए और अपना जीवन सफल वनाइए।

[गुरुपूर्णिमा—१५-७-७३]

५. साधक के कर्त्तव्य

साधना जीवन का प्रमुख अङ्ग है। साधना के लिए ही हमें यह अमूल्य मानव-जन्म मिला है। साधक का यह प्रमुख कर्त्तव्य है कि इस शरीर से जो भी कार्य करे, वह ऐसा हो जिससे वह मानव कहलाने का अधिकारी वने। अतः साधक के सभी प्रयत्न ईश्वर-प्राप्ति के लिए ही किये जाने चाहिए। उसे सदा इस बात पर विचार करते रहना चाहिए कि पशु से वह श्रेष्ठ है।

मनुष्य में और पशु में यही अन्तर है कि मानव में बिचार और विवेक है, अच्छा-बुरा जानने की, तर्क करने की शक्ति है अर्थात् बुद्धि है। पशु में विवेक का सर्वथा अभाव है। यूं तो सभी मनुष्यों के लिए विचारवान् होने की आवश्यकता है; क्योंकि विवेकहीन व्यक्ति तो सदा ठोकरें खाता रहेगा, भटकता रहेगा; किन्तु साधक के लिए तो विचारशील, विवेकशील होना अनवार्य ही है।

साधक का कर्त्तव्य यहीं समाप्त नहीं हो जाता। वह इस शरीर को सब प्रकार से ईश्वर-प्राप्ति के लिए लगाये—इतना ही पर्याप्त नहीं है वरन् उसे तो इस शरीर, मन और बुद्धि से भी परे जाना है। जब तक इन सबसे हमारा तादात्म्य रहेगा, हम ऊपर नहीं उठ सकेंगे। 'मैं यह शरीर नहीं हूँ' ऐसा भाव

सदा बनाये रखना चाहिए। स्वयं को नित्य, शुद्ध, अमर आत्मा मानना चाहिये। मानव-जीवन का साफल्य तो तभी है जब वह स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़े; उसका प्रत्येक कार्य आध्यात्मिक हो, प्रत्येक विचार में आध्यात्मिकता हो और साथही वाणी से आध्यात्मिक अनुभूति प्रकट होती हो।

जीवन को सदा गतिशील बनाना साधक का एक अन्य कर्त्तव्य है। गतिशीलता ही जीवन है और गतिरोध ही मृत्यु है। सदा सत्प्रयत्न करते रहना ही जीवन जीने का लक्षण है। मनुष्यता से दिव्यता की ओर अविराम गति से अग्रसर होना ही साधक की सच्ची साधना है। यही जीवन का लक्ष्य है। साधक को सदा दैवी गुणों को प्रकाशित करना चाहिए।

आसुरी प्रवृत्तियाँ बड़ी प्रबल होती हैं। वह मानव को अपना दास बनाये रखती हैं। क्रोध, लोभ, ईर्ष्या तथा अहङ्कार जैसे दुर्गुण जाल की तरह फैले रहते हैं। तनिक-सी असावधानी जीवन भर की साधना, तपस्या पर पानी फेर सकती है। अतः साधक को सदा सजग रह कर दैवी गुणों—सेवा, प्रेम, दान, पवित्रता, धारणा तथा ध्यान—का विकास करके आसुरी प्रवृत्तियों पर अधिकार प्राप्त कर लेना चाहिए। उन्हें (आसुरी प्रवृत्तियों को) सदा हेय दृष्टि से देखना चाहिए तथा उनका तिरस्कार करते रहना चाहिए।

साधक कभी-कभी दोषों में गुण खोज लेता है, इसीलिए उन्हें छोड़ना कठिन हो जाता है। जब तक दोष में एक भी गुण दिखायी देगा, वह छूटेगा नहीं। अतः दुर्गुणों से कभी भी समझौता नहीं करना चाहिए।

दिव्यता की प्राप्ति, भगवत्प्राप्ति के लिए किये गये

निरन्तर अथक प्रयत्न ही सच्ची साधना है—यह निष्कर्ष निकलता है। जो साधक इस प्रकार से चेष्टा कर रहा है, तन-मन-धन से पुरुषार्थ कर रहा है, वही अपने लक्ष्य तक पहुँचेगा। निष्क्रियता का जीवन में कोई स्थान नहीं है। निष्क्रिय रह कर व्यक्ति अपने जीवन की सभी प्रकार की प्रगति को अवरुद्ध कर देता है।

आत्म-निरीक्षण तथा आत्म-परीक्षण द्वारा साधक को अपने कार्यों में सुधार लाना होगा। 'कल मैं कहाँ था? आज मैं कितना बढ़ सका हूँ? मेरी दिशा क्या है?' आदि बातों पर नित्य विचार करना होगा। प्रगति के लिए उत्सुकता तथा व्याकुलता बनाये रखनी होगी। जब तक ईश्वर-प्राप्ति के भाव में तीव्रता नहीं होगी, उसके दर्शन के लिए नेत्रों से अश्रु नहीं बहेंगे, वाणी गद्‌गद् नहीं होगी और कण्ठ अवरुद्ध नहीं होगा तब तक प्रभु तुम्हें अपनायेंगे नहीं।

अतः अपने लक्ष्य की ओर अविराम गति से, दृढ़तापूर्वक निर्भय होकर बढ़ते चलो। मञ्जिल तुम्हें स्वयं पुकार लेगी।

[प्रवचन दिनाङ्क १६-७-७३]

६. दैवी गुणों की साधना

यह जगत् जो तुम्हारे सम्मुख है, यह सृष्टि जो तुम्हारे चारों ओर है तथा यह प्रकृति जो तुम्हें घेरे हुए है—यह सब उस प्रभु की माया है। इस समस्त माया को 'त्रिगुणात्मिका माया' कहते हैं। सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों से ही यह समस्त ब्रह्माण्ड बना है।

प्रत्येक व्यक्ति में भी ये ही तीन गुण सदा से विद्यमान रहते हैं तथा रहेंगे। इन गुणों से ऊपर उठने का नाम है परमानन्द की प्राप्ति। इन तीनों गुणों में सात्त्विक गुण ही श्रेष्ठ है। तमोगुण तथा रजोगुण संसार की ओर खींचने वाले, बन्धन में बाँधने वाले हैं। सात्त्विक गुण सांसारिक बन्धनों से मुक्ति दिलाने वाले तथा लक्ष्य की ओर बढ़ाने वाले हैं।

साधकों का परम कर्त्तव्य है कि रजोगुण तथा तमोगुण को अपने अन्दर प्रवेश न करने दें। यूँ तो उसका कुछ-न-कुछ अंश शरीर में रहता ही है, किन्तु उसे सतोगुण के विकास के द्वारा मिटाते रहना चाहिए। जीवन को सात्त्विक बनाने के लिए साधक को मन, वचन तथा कर्म—तीनों को सात्त्विक बनाना होगा। जो-कुछ विचार करें, वे सात्त्विक विचार हों। दृष्टि सात्त्विक दृश्य देखे तथा अपने कानों से सात्त्विक ध्वनि

सुनें। इसी प्रकार से हमारा जीवन सात्त्विक बन सकेगा। यही साधक की परम साधना है तथा भगवत्साक्षात्कार की दिशा में एक ठोस कदम है।

जहाँ सतोगुण की वृद्धि होती है, वहाँ अनेक दैवी गुणों का प्रवेश होता है; सेवा, प्रेम, दया, क्षमा, अहिंसा की भावना उत्पन्न होती है; विवेक तथा विचार जाग्रत होता है; प्रत्याहार, धारणा तथा ध्यान की शक्ति का विकास होता है। ऐसे साधक में त्याग तथा निस्स्वार्थता स्वतः आ जाती है। उसके आन्तरिक तथा वाह्य जीवन में सात्त्विक भाव स्पष्ट दीखने लगते हैं। वह विनम्र तथा मृदुभाषी हो जाता है। उसमें होने वाली प्रतिक्रियाएँ भी सात्त्विक होती हैं।

जिसमें रजोगुण तथा तमोगुण की प्रधानता है उस साधक का जीवन क्रोध, अहङ्कार, अभिमान, राग-द्वेष, ईर्ष्या, लोभ, मोह तथा आलस्य एवं अकर्मण्यता से परिपूर्ण होगा। वह दिन-रात वैषयिक सुखों के भोग में लगा रहेगा तथा धीरे-धीरे अपनी समस्त शक्ति, समस्त चेतना खो बैठेगा और अन्ततोगत्वा मृत्यु का ग्रास बन जायगा। उसका समस्त जीवन मात्र दुःखों का भण्डार बना रहेगा।

सात्त्विक जीवन दिव्य जीवन की भूमिका है। दिव्य जीवन आध्यात्मिक जीवन का ही एक अङ्ग है। दिव्य जीवन यापन के लिए हमें कोई क्रमबद्ध योजना बनानी चाहिए। एक नियमित कार्यक्रम होना चाहिए तथा उसे व्यवस्थित रूप देना चाहिए। प्रातः से सन्ध्या तक का कार्यक्रम प्रातःकाल उठते ही निश्चित करने से दिन बड़ी सरलता से व्यतीत हो जायगा। हमें सोचना नहीं पड़ेगा कि 'अमुक समय हम क्या

करें ?' 'अब हमारे पास कोई कार्य ही नहीं है।' इत्यादि। साधना की योजना महीनों और वर्षों की नहीं हो सकती। उसे तो प्रत्येक घण्टे की, प्रत्येक दिन की बनाना होगा।

अव्यवस्थित जीवन पशु का जीवन है। जब भूख लगी, खा लिया, जब नींद आयी, सो लिये। जीवन में किसी बात का निश्चय ही नहीं है, कोई अनुशासन ही नहीं है। कारण यह है कि पशु के सम्मुख उसके जीवन का कोई निश्चित लक्ष्य नहीं होता। अतः साधनहीन, लक्ष्यहीन जीवन पशु का ही जीवन होता है—मानव-जीवन नहीं।

सात्त्विक जीवन आध्यात्मिक जीवन-रूपी प्रासाद की आधारशिला है। जिस प्रकार प्रासाद के निर्माण में एक-एक ईंट जोड़नी पड़ती है तथा योजना के अनुसार स्थान-स्थान पर खम्भे, द्वार आदि बनाने होते हैं, उसी प्रकार जीवन का आध्यात्मीकरण करने के लिए नाना गुणों का क्रमिक विकास तथा उसके अनुरूप आचरण करना अत्यन्त आवश्यक है।

यदि गुणों का विकास नहीं होगा तो जीवन सात्त्विक तथा आध्यात्मिक नहीं बनेगा; क्योंकि इनका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। इस ज्ञान पर आधारित तथा इसी सत्य पर टिकी हुई हमारी साधना सफल हो सकती है। आप सभी अभी से प्रयास आरम्भ करें।

[दिनाङ्क १७-७-७३]

७. साधक की कसौटियाँ

आप सभी में मैं दिव्यता के दर्शन कर रहा हूँ। आप साधारण व्यक्ति नहीं हैं—सभी साधक हैं। साधक-वर्ग एक अल्पसङ्ख्यक तथा श्रेष्ठ वर्ग माना जाता है। सांसारिक भव-बन्धनों से बँधे हुए, उलझे हुए तथा भ्रमित जीवात्माओं से परे, आप लोग केवल नित्य, शुद्ध तथा पूर्ण के उपासक, इस भव-बन्धन से मुक्त होने की लालसा, अभिलाषा रखने वाले जीवात्माओं में गिने जाते हैं। जैसे हजारों हाथियों के समूह पर एक भी सिंह निर्भय होकर आक्रमण कर देता है; जिस प्रकार गृहस्थों में एक संन्यासी दूर से ही पहचान लिया जाता है, उसी प्रकार सर्वसाधारण में से साधक-वर्ग अपने सदाचरण के कारण दूर से ही प्रकट हो जाता है तथा उसे किसी समाज का भय नहीं होता। वह निर्भय रहता है। संसार की चिन्ता नहीं करता।

मुक्त होने का विचार साधक के जीवन में आमूल-चूल परिवर्त्तन ला देता है; उसे संसार से निराला बना देता है; असाधारण तथा असामान्य बना देता है। उसके प्रत्येक विचार में, उसके प्रत्येक शब्द में तथा प्रत्येक आचरण में कुछ नवीनता, विलक्षणता आ जाती है जिसे वह स्वयं ही अनुभव कर सकता है। साधारण व्यक्ति को आश्चर्य होता है। वह साधक को देख कर सोचने लगता है—'अमुक व्यकित को

क्या हो गया है ? न वह खाता है, न वह सोता है, मौन एकान्त में विचरता है।' माता-पिता भी सोचते हैं—'मेरे लाल को न जाने क्या हो गया ? न हँसता है, न खेलता है; न अच्छे वस्त्र पहनता है। मित्रों से दूर रहता है।' उसे निरन्तर खोया-खोया-सा देख कर कभी-कभी 'पागल' की उपाधि तक दे डालते हैं, किन्तु उस रहस्य को तो केवल वह साधक ही जानता है। जो स्वयं पागल है, वह दूसरों को भी पागल ही समझता है।

गृहस्थ लोग पागलों की तरह से भौतिक वस्तुओं के संग्रह में जुटे हैं; भोग-विलास से चिपके हैं। वे इसी को जीवन मान बैठे हैं जो कि वस्तुतः पागलपन ही है। हम एक पागलखाने का उदाहरण दे सकते हैं। किसी पागलखाने में यदि कोई स्वस्थ व्यक्ति चला जाय तो अन्य पागल उसे देख कर पागल ही समझेंगे। इसी प्रकार इस संसार-रूपी पागलखाने में साधारण लोग स्वस्थ साधकों को ही पागल समझ लेते हैं।

यह स्वाभाविक है कि साधक को समझने में साधारण व्यक्ति सदा भूल कर जाता है। कारण यह है कि साधक लोक-व्यवहार के विरुद्ध आचरण करता है। यही कारण है कि उसके जीवन में पग-पग पर कठिनाइयाँ आती हैं। साधक यदि अपना दृष्टिकोण बदल दे तो वह सरलता से उन पर विजय प्राप्त कर सकता है।

कठिनाइयाँ साधना का अङ्ग हैं। यह मान कर चलना चाहिए कि साधना-काल में दुःख तथा कष्ट निहित हैं। कठि-नाइयाँ उसका अभिन्न अङ्ग हैं। अतः साधक को उनके लिए पहले से ही तैयार रहना चाहिए। जब साधक अनायास किसी

कठिनाई में फँस जाता है तो उसका विश्वास गुरु पर से, साधन पर से उठने लगता है—वह विचलित हो जाता है। यही उसकी भूल है। ऐसे समय उसे धैर्य से कार्य करना चाहिए तथा कठिनाइयों को साधना का स्वाभाविक रूप मान कर जीवन में स्वीकार कर लेना चाहिए।

इसीलिए सत्सङ्ग तथा सन्तों के जीवन का गहन अध्ययन अपेक्षित है। किसी भी वड़े सन्त का जीवन-चरित्र पढ़ लें। आप देखेंगे कि उसका जीवन काँटों की शैया जैसा है, फिर भी वह उसी पर विश्राम करता है और कष्ट का अनुभव तक नहीं करता। जैसे गरीब वालक दिनभर कङ्कड़ों में, काँटों में खेलते रहते हैं। कङ्कड़ गड़ जाते हैं, काँटे चुभ जाते हैं; किन्तु वालकों के खेल में अन्तर नहीं आता; क्योंकि वे अभ्यस्त हो चुके होते हैं। इसी प्रकार साधक को हर प्रकार के जीवन के लिए तैयार रहना चाहिए तथा परिस्थितियों के अनुरूप स्वयं को ढाल लेना चाहिए।

साधक के लिए यहाँ एक वात और भी विचारणीय है। वह सदा कठिनाइयों से जूझने के लिए, दुर्गुणों से सङ्घर्ष करने के लिए तैयार रहता है। उसकी धारणा होती है कि जीवन में इनसे कोई समझौता न करे। किन्तु यहाँ उसे एक रहस्य को समझना चाहिए। सङ्घर्ष करना एक वात है और समझौता न करना दूसरी वात है। साधक को न तो समझौता करना चाहिए और न दुर्गुणों से सदा सङ्घर्ष करने की प्रवृत्ति रखनी चाहिए। उसे परिस्थिति को देखते हुए, दुर्गुणों से उदासीन होकर, उनसे स्वयं को वचा कर निकल जाना चाहिए। सङ्घर्ष में समय और शक्ति दोनों का ह्रास होता है।

साधक को अपनी साधना का अभिमान नहीं होना चाहिए, किन्तु उसे इस विचार को सदा बनाये रखना चाहिए कि वह साधक है। अभिमान न होने से वह विनम्र बना रहेगा तथा 'साधक' होने का ध्यान रखने से अपने पथ से च्युत नहीं होगा और उसका लक्ष्य आँख से ओझल नहीं होगा। साधक के लिए यह जागृति, चेतना तथा स्मृति ही कल्याण-कारी है और अपने साधक होने की विस्मृति ही विनाशकारी है।

सदा सजग तथा सावधान रहिए। सच्चे साधक बनिए और जीवन सफल बनाइए।

[दिनाङ्क १८-७-७३]

८. सत्सङ्ग का महत्त्व

भगवान् की जय हो। गुरुदेव स्वामी शिवानन्द जी महाराज की जय हो। आप सभी जिज्ञासुओं की, मुमुक्षुओं की जय हो। इस प्रातःकाल की बेला में भगवान् का स्मरण करना बड़े सौभाग्य से मिलता है और फिर इस सामूहिक रूप में भगवत्-स्मरण से तो और भी लाभ होता है। समस्त वातावरण शुद्ध तथा पवित्र हो जाता है। यही कारण है कि यह सम्पूर्ण उत्तराखण्ड की धरती पावन हो उठी है; क्योंकि यह प्राचीन काल से ही साधकों, सन्तों का साधना-स्थल रही है तथा योगियों, तपस्वियों की तपोभूमि रही है।

सत्सङ्ग का जीवन में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। सत्सङ्ग से हमारे विचार बनते हैं तथा साधक को अपने अज्ञान का भी ज्ञान होता है। सत्सङ्ग के समय साधक को सदा सजग तथा सावधान रहना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि उसे अपने मन को सदा अपने निकट रखना चाहिए। प्रायः देखा जाता है कि जब हम घर पर रहते हैं तो हमारा मन 'ऑफिस' में अपने सहयोगियों के पास चला जाता है तथा जब हम 'ऑफिस' जाते हैं तो वह पत्नी-बच्चों में उलझ जाता है। मन बड़ा चञ्चल है। इसे अपने निकट रख कर सत्सङ्ग का लाभ उठाना चाहिए।

सत्सङ्ग में वैठते समय ग्रहण करने का विचार तथा सङ्कल्प रहना चाहिए। ग्रालोचनात्मक दृष्टिकोण से केवल समय नष्ट होगा और ग्राप कुछ भी सीख नहीं सकेंगे। ग्रतः ग्रहं को, ग्रपने थोथे ज्ञान को उस समय के लिए भूल जाना चाहिए।

शिक्षा ग्रपने से छोटे व्यक्ति से भी लेने में हानि नहीं है। यदि ग्रापसे ग्रायु में, शिक्षा में छोटा व्यक्ति कोई सत्य वात, नवीन वत कहता है तो उस पर विचार ग्रवश्य करना चाहिए। छोटा मान कर उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिए।

साधना-पथ में वढ़ते हुए इस वात का भी ध्यान रखना चाहिए कि उसके लिए विश्राम का समय ग्रभी दूर है। 'ग्राराम हराम है।' इसका ग्रर्थ यह नहीं कि ग्राप शरीर को इतना थका दें कि वह दूसरे दिन कार्य करने योग्य ही न रह जाय। शरीर का तिरस्कार नहीं करना है, वरन् उसे सदा किसी-न-किसी कार्य में लगाये रखना है। कभी स्वाध्याय, कभी जप, भजन, कीर्त्तन, ध्यान तथा कभी किसी सत्सङ्ग में समय व्यतीत करना चाहिए। ग्रापको ऐसा नहीं लगना चाहिए कि 'ग्रब मेरे पास कुछ काम करने को नहीं है।' यदि ऐसा होगा तो ग्राप फिर व्यर्थ की गपशप में, ग्रवाञ्छित मित्रों के साहचर्य में समय नष्ट करने लगेंगे। ग्रापका मन सांसारिक विषयों की ग्रोर दौड़ने लगेगा। ग्रपने समय को इस प्रकार के कार्यों में विभाजित कर दीजिए कि ग्रापका मन भी न ऊबे तथा उसका सदुपयोग भी हो जाय। कार्यों में परिवर्त्तन करने से मस्तिष्क में ताजगी ग्राती है तथा ग्रालस्य दूर भाग जाता है, विचारों में नवीनता बनी रहती है, कार्य करने की इच्छा होती है तथा उसमें रुचि वनी रहती है।

इस सप्ताह जो कार्यक्रम यहाँ चल रहा है, उसे यहाँ से जाने के वाद भुलाना नहीं चाहिए। यह ठीक है कि घर पर जाकर घर-गृहस्थी के कार्य भी करने होंगे, माता-पिता की सेवा तथा 'ऑफिस' का कार्य भी करना होगा; किन्तु उन सव कार्यों के वाद भी शेष समय—चाहे वह कितना भी हो, उसको ईश्वर-चिन्तन में लगाना है। तभी यहाँ आने का कुछ लाभ होगा।

[दिनाङ्क १६-६-७३]

९. गुरु-कृपा

आज इस 'आराधना-सप्ताह' का अन्तिम दिन है। यह जो कार्यक्रम, भजन-कीर्त्तन, ध्यान-जप तथा प्रवचन-सत्सङ्ग का धारावत् एक सप्ताह से चल रहा था—आज समाप्त हो जायगा। यह विलक्षण तथा महत्त्वपूर्ण सप्ताह आपको एक वर्ष तक प्रेरणा, स्फूर्त्ति तथा दिशा देता रहेगा। अगले वर्ष पुनः आप यहाँ आकर खोयी हुई शक्ति प्राप्त करेंगे। जैसे मन्दिर के दीपक को सदा प्रज्वलित रखने के लिए पुजारी को सावधान होकर घृत डालते रहना होता है, उसी प्रकार गुरु भी अपने शिष्यों का मार्ग-दर्शन करने के लिए निरन्तर उपदेश तथा ज्ञान प्रदान करता रहता है। लोहा यदि एक स्थान पर पड़ा रहता है तो उसमें जङ्ग लग जाती है। अतः उसे निरन्तर स्वच्छ करने की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार गुरु भी वार-वार उपदेश देकर, साधना में लगा कर शिष्य का हृदय निर्मल तथा स्वच्छ वना देता है।

शिष्य गुरु के निकट जानने योग्य ज्ञान-प्राप्ति के लिए आता है। वह ऐसा मानता है कि विद्या प्राप्त करने पर अविद्या का नाश होगा और वह संसार के वन्धन से मुक्त हो जायगा। उसके सभी सङ्कट मिट जायेंगे। अतः गुरु के निकट जाते समय सदा मुमुक्षु बन कर ही जाना चाहिए।

गुरु से कुछ प्राप्त करने के लिए उसकी सेवा भी आवश्यक है। जब तक बालक माता-पिता की सेवा नहीं करता, उनकी आज्ञा का पालन नहीं करता, तब तक माता-पिता का स्नेह वह प्राप्त नहीं कर पाता; उनसे अपने मन की वस्तुएँ भी नहीं प्राप्त कर सकता। माता-पिता तो केवल सांसारिक वस्तुएँ ही जुटा सकते हैं, लौकिक सुखों को ही प्रदान कर सकते हैं। फिर उनका अपना भी कुछ स्वार्थ निहित रहता है। किन्तु गुरु से आप जो ज्ञान प्राप्त करेंगे —वह सदा-सदा रहने वाला है, वह परमानन्द है। वह बन्धन का कारण नहीं वरन् मुक्ति प्रदान करने वाला है। फिर, गुरु का उसमें अपना कोई स्वार्थ नहीं है। वह तो जन-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर ही समस्त कार्य करता है।

अतः जो गुरु इतना दयालु तथा कृपालु है कि आप पर सदा बिना माँगे ही अनुग्रह करता है, उसकी सेवा करना शिष्य का प्रथम कर्त्तव्य है। सेवा का अर्थ केवल शारीरिक सेवा ही नहीं है। हाँ, आवश्यकता पड़ने पर शिष्य को उसके लिए भी प्रस्तुत रहना चाहिए; किन्तु गुरु की वास्तविक सेवा तो यही है कि उसके बताये हुए मार्ग पर चले तथा दिये गये उपदेशों के अनुरूप आचरण करे।

गुरु की आज्ञाओं का पालन, उनके उपदेशों का प्रचार तथा प्रसार, उनका चिन्तन तथा स्मरण करना भी गुरु-सेवा ही है। कभी-कभी साधक भ्रमवश गुरु के शरीर की सेवा को ही अत्यधिक महत्त्व देता है। इसके लिए वह अन्य शिष्यों से कभी-कभी झगड़ा भी कर बैठता है। इस प्रकार की धारणा का त्याग करना चाहिए।

अन्त में एक बात और कह कर मैं अपना विचार समाप्त करूँगा। समय गतिशील है। वह कभी लौटता नहीं। यह शरीर नश्वर है, क्षणभङ्गुर है। मृत्यु निश्चित है; किन्तु इस दृष्टि से अनिश्चित भी है कि उसका कोई भरोसा नहीं, कब आ जाय; अभी आ जाय। अतः साधक को सदा सजग रह कर आत्म-परीक्षण तथा आत्म-निरीक्षण द्वारा अपनी साधना में निरन्तर जुटे रहना चाहिए। गुरु में अटूट श्रद्धा तथा विश्वास रख कर उसके उपदेशों का यथाशक्ति पालन करना चाहिए। तभी आपकी साधना सफल होगी।

मेरी हार्दिक कामना है कि आप सभी पर गुरु महाराज स्वामी शिवानन्द जी का अनुग्रह बना रहे तथा आप ईश्वर में निवास करें !

[दिनाङ्क २०-७ ७३]

१०. ज्ञान-यज्ञ

आपका अत्यन्त सौभाग्य है कि विगत बारह दिनों से आप भगवन्नाम ले रहे हैं तथा उसे सुन रहे हैं। बमकुई ग्राम की जनता का तो और भी सौभाग्य है कि इस पूरे क्षेत्र का वातावरण 'राममय' हो गया है। 'श्रीरामचरित-मानस' का नवाह्न-पारायण तथा श्रवण 'कलियुग' के समस्त पापों का नाश करने वाला है। आप सभी पुण्यात्मा हैं, जिन्हें इसमें भाग लेने का अमूल्य अवसर मिला है।

अभी तीन दिन से 'ज्ञान-यज्ञ-योजना' भी चल रही है। यह उसका अन्तिम सत्सङ्ग है। इस 'ज्ञान-यज्ञ-योजना' के पीछे क्या भावना है, उसका क्या मूल्य है तथा उसमें क्या रहस्य है?—इन बातों पर आपको गहराई से विचार करना है।

व्यक्ति, और विशेष रूप से साधक साधना करता है; चिन्तन, मनन तथा निदिध्यासन करता है; जप, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि के द्वारा मनोनिग्रह करके ईश्वर से तादात्म्य जोड़ना चाहता है। मन्दिर में भगवान् के दर्शन करते हैं; पूजा-पाठ करते हैं; तीर्थाटन के लिए जाते हैं; सन्त-महात्माओं के दर्शन कर सत्सङ्ग-लाभ करते हैं; संयम-नियम से रहते हैं, व्रत-अनुष्ठान

करते हैं– आखिर ये सभी कार्य ईश्वर का अनुग्रह तथा उसके दर्शन प्राप्त करने के लिए ही किये जाते हैं। किन्तु क्या आपको ज्ञात है कि विगत तीन दिनों से निरन्तर आप सबके ऊपर उस परम पिता परमेश्वर की अहैतुकी कृपा की वर्षा हो रही है ? सन्त महात्माओं की मधुर वाणी से अमृत झर रहा है ? इसका कारण यह है कि यहाँ जो-कुछ हुआ, जिसे आप सभी ने देखा—वह सब भगवत्प्रेरणा से, ईश्वर की इच्छा से ही हुआ है।

इस सम्मेलन के आयोजन को गुरुदेव श्री स्वामी शिवानन्द जी महाराज की कृपा ही मानना चाहिए। मनुष्य की शक्ति और साधना सीमित है। इतने बड़े तथा सफल आयोजनों के पीछे गुरु की ही कृपा माननी चाहिए। बिना उनके आशीर्वाद के यह सम्भव नहीं हो सकता।

बमकुई ग्राम की जनता बधाई की पात्र है। बड़ी सङ्ख्या में तथा बड़े भक्तिभाव से वह इस आध्यात्मिक आयोजन में सम्मिलित हुई है। बड़े शान्तिपूर्वक सब लोगों ने प्रवचन सुने हैं तथा मुझे विश्वास है कि वह इससे अवश्य लाभ उठा कर अपना जीवन सफल बनायेंगे।

'गुरु' शब्द का अर्थ है 'ज्ञान देने वाला तथा अन्धकार को नष्ट करने वाला।' अज्ञान ही अन्धकार है। जब मानव (जीव) अविद्या-रूपी अन्धकार में फँस जाता है तब उसके लिए विद्या (ज्ञान) के प्रकाश की आवश्यकता होती है। अंधेरे में साधक दिग्भ्रमित हो जाता है। वह एक मार्ग से दूसरे मार्ग पर भटकता रहता है। लक्ष्य का ज्ञान वह खो बैठता है। दिशाहीन होने पर सदा यह भय बना रहता है

कि साधक कहीं काँटों में न उलझ जाय, किसी वृक्ष से न टकरा जाय अथवा कहीं कीचड़ और दलदल में न फँस जाय।

यही दशा जीव की है। वह इस संसार में आकर दिशा-हीन हो जाता है। लौकिक सुखों के आकर्षण में फँस कर अपना जीवन नष्ट कर देता है। दिशाहीन होकर अपने कष्टों को भोगता है। ऐसी दशा में केवल गुरु ही 'अन्धे की लाठी' बन कर, उसका हाथ पकड़ कर, अपने ज्ञान की ज्योति से साधक का मार्ग प्रकाशित कर देता है। अतः गुरु ही शिष्य को अविद्या-रूपी अन्धकार से मुक्त कर, विद्या-रूपी प्रकाश प्रदान करता है जिससे साधक अपना लक्ष्य स्पष्ट देख लेता है।

गुरु अथवा सन्त का मिलना बड़ा कठिन होता है। मिलन के पश्चात् उनका उपदेश तथा सत्सङ्ग प्राप्त करना और भी कठिन है। बहुत से सन्त इतना कम बोलते हैं कि उनसे कोई भी उपदेश प्राप्त करना सरल नहीं होता। वे कभी किसी धुन में आकर कुछ कह जाते हैं। सुनी हुई बात को कभी-कभी समझना भी कठिन होता है। क्योंकि समझने के लिए ठीक प्रकार की बुद्धि होनी चाहिए। किन्तु बुद्धि-विवेक का विकास करने के लिए भी पुनः सत्सङ्ग की ही आवश्यकता होती है। गोस्वामी जी कहते हैं—

बिनु सत्सङ्ग विवेक न होई।
बिनु हरि कृपा सुलभ नहिं सोई॥

—अर्थात् सत्सङ्ग-प्राप्ति भी बिना भगवत्कृपा के सम्भव नहीं है।

अतः साधक को सदा भगवत्कृपा के लिए मन, वचन, कर्म से प्रयत्नशील रहना चाहिए। सदा भगवान् का चिन्तन हो, उसी का जप, कीर्त्तन तथा गुणगान हो तथा प्रत्येक कार्य उसी की पूजा बन जाय। इस प्रकार साधक बड़ी शीघ्रता से अपने लक्ष्य की ओर, कैवल्य पद की ओर बढ़ सकता है। उसे प्रत्येक पग बड़ी दृढ़ता से बढ़ाना होगा।

जीवन में भूलों के प्रति सजग रहें, भूल होने पर तुरन्त उसका सुधार करें तथा भविष्य में पुनः वैसा कार्य न करने का प्रण करलें। कोई भी कार्य लक्ष्य से विमुख करने वाला न हो, धर्म के विपरीत न हो। प्रत्येक कार्य सत्य, समता और न्याय पर आधारित हो। इस प्रकार आप सदा सन्मार्ग पर बढ़ते रहेंगे।

साधक को संयम का आश्रय कभी नहीं छोड़ना चाहिए। वाह्य जगत् का प्रभाव व्यक्ति पर अवश्य पड़ता है; किन्तु विवेक, वैराग्य तथा अभ्यास द्वारा उसके प्रभाव को नष्ट कर देना चाहिए। कोई प्रलोभन आपको कितना भी डिगाने का प्रयत्न करे, किन्तु आप हिमालय की भाँति अचल बने रहें। इसी सम्बन्ध में मैं उपनिषद् की एक कथा सुनाता हूँ। आप विचार कर सकते हैं कि हमारे देश के ऋषि-मुनि तथा उनकी पत्नियाँ भी कितनी विद्वान् तथा वैराग्यवान् हुआ करती थीं।

महर्षि याज्ञवल्क्य महाज्ञानी थे। उनकी दो पत्नियाँ थीं— कात्यायिनी तथा मैत्रेयी। महर्षि अत्यन्त ज्ञानी होने के कारण बड़े सम्मान के पात्र थे। राजा जनक भी उनके शिष्य थे। वृद्धावस्था में उन्होंने संन्यास लेना चाहा। दोनों पत्नियों

को बुला कर अपना निर्णय बता दिया तथा दोनों से सम्पत्ति बाँट लेने को कहा।

दोनों पत्नियों पर इस बात का भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ा। कात्यायिमी छोटी थी। उसका लौकिक दृष्टिकोण था, अतः उसने घर की समस्त सम्पत्ति की सूची तैयार कर ली तथा उसका अर्द्ध भाग प्राप्त करने का निर्णय कर लिया।

किन्तु मैत्रेयी बहुत बुद्धिमान् तथा विवेकशील थी। उसने विचार किया कि पतिदेव इस समस्त धन-वैभव को छोड़ कर जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिए संन्यास लेना चाहते हैं, वह निश्चय ही कोई उत्तम वस्तु होगी। अतः यह विचार कर वह पति के चरणों में बैठ गयी तथा नम्रतापूर्वक प्रश्न करने लगी। उसने जानना चाहा कि वे किस वस्तु की खोज में जाना चाहते हैं? क्या वह इन समस्त सुखों से उत्तम है? विलक्षण है?

महर्षि को मैत्रेयी के इस प्रश्न पर बड़ा सन्तोष हुआ। उन्होंने बताया कि वे आत्मतत्त्व की, अमरत्व की, परमानन्द की खोज में जा रहे हैं। वे उस अविनाशी, सच्चिदानन्द को प्राप्त करना चाहते हैं, जिसे प्राप्त करने के पश्चात् फिर कुछ भी प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होती। उसके बाद व्यक्ति मुक्त हो जाता है।

मैत्रेयी ने पुनः प्रश्न किया कि क्या वह इस सम्पत्ति, धन तथा वैभव से यह सब प्राप्त नहीं कर सकती?

महर्षि ने बड़े प्रेम से मैत्रैयी को समझाते हुए कहा कि इस धन-ऐश्वर्य से वह कुछ समय बड़े सुख से रह सकती है; किन्तु अन्त में वृद्धावस्था आयेगी, शरीर रोगों से पीड़ित होगा और अन्त में मृत्यु शरीर को ग्रस लेगी।

इतना सुन कर मैत्रेयी ने कहा, 'हे नाथ ! जब मृत्यु होनी ही है और यह धन-सम्पत्ति सुख नहीं देती, तब इसे लेकर मैं क्या करूँगी ? कृपानिधान ! मुझे भी आत्मतत्त्व का ज्ञान दीजिए जिससे मैं अमर हो सकूँ।' इतना कह कर उसने धन-सम्पत्ति का अपना भाग भी कात्यायिनी को दे दिया तथा स्वयं महर्षि के साथ वन को चली गयी।

महर्षि को मैत्रेयी के इस निर्णय पर तथा उसके विवेक पर आश्चर्य के साथ-साथ प्रसन्नता हुई। उन्होंने उसे आत्मतत्त्व का उपदेश दिया। उन्होंने बताया कि संसार में प्रिय लगने का कारण यह आत्मतत्त्व ही है। जैसे वृक्ष में फल, गाय में दुग्ध, सरोवर में जल का मूल्य है, उसी प्रकार मानव-शरीर में आत्मा का मूल्य है। जो इस तत्त्व को नहीं पहचानता, वह वह माया में फँसा रहता है। इस उपदेश से मैत्रेयी कृतकृत्य हो गयी।

साधको ! यही समय है साधना का। जव मैत्रेयी जैसी ऐश्वर्यसम्पन्न सब-कुछ छोड़ कर साधना के लिए चली गयी, गौतम बुद्ध राज-पाट, सुन्दर स्त्री तथा पुत्र को छोड़ कर तपस्या के लिए चले गये, तव हम-आप लोगों के पास क्या उससे अधिक सम्पत्ति, उससे अधिक ऐश्वर्य है ? निश्चय ही सबसे अधिक मूल्यवान् कोई अन्य वस्तु है जिसके लिए हमें निरन्तर प्रयास करते रहना चाहिए।

व्यक्ति कैसी भी परिस्थिति में रहे, उसे उसके अनुरूप स्वयं को ढाल लेना चाहिए। सुख और शान्ति बाहर की वस्तुओं में नहीं है, वह तो हमारे हृदय में है। उसे सदा हृदय में ही खोजना चाहिए।

समय भाग रहा है। सावधान ! आप पीछे रह जायेंगे। अनुकूल समय आने की प्रतीक्षा करना व्यर्थ है। वृद्धावस्था में साधना की बात सोचना मूर्खता है। तब इन्द्रियाँ शिथिल हो जायेंगी। अभी समय है! जीवन को साधना-क्षेत्र बनाइए। साधना को जीवन का प्रमुख कार्य मानिए। शेष कार्य गौण होने चाहिए। गुरुदेव ने कहा करते थे—*'God first. World next and Self last'* (ईश्वर प्रथम, संसार द्वितीय तथा अन्त में स्वयं)। साधक को यही क्रम हृदयस्थ करना चाहिए।

आत्मतत्त्व-लाभ के लिए विवेक तथा वैराग्य अपेक्षित है। वैराग्य केवल संन्यासियों के लिए ही नहीं है, गृहस्थों के लिए भी आवश्यक है। वैराग्य का अर्थ है—इच्छा, तृष्णा का त्याग। इसके साथ ही धार्मिक प्रवृत्ति का होना भी नितान्त आवश्यक है। इसके अभाव में समस्त साधना ही निष्फल हो जायगी—जैसे पात्र में छिद्र हो तो जल से पूरा भरा होने पर भी थोड़े ही समय में वह रिक्त हो जाता है। इन सभी बातों पर सावधानी से विचार कीजिए।

[दिनाङ्क २९-१-७४ को उत्कल दिव्य-जीवन-सम्मेलन, बमकुई में दिया गया प्रवचन।]

११. ज्ञान-यज्ञ की महिमा

आप अनन्त शान्ति के सागर, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के नायक, आनन्दकन्द सच्चिदानन्द भगवान् के एक अंश के रूप में विराजमान हैं। यदि उसे आप परम ज्योति मानें तो आप उसकी एक रश्मि हैं। यदि आपके शरीर में आत्मा न हो, वही परम सत्ता यदि शरीर का सञ्चालन न करे, वही ज्योति प्रज्वलित न हो, तो यह शरीर केवल हाड़-माँस का कङ्काल ही रह जाता है। जैसे लालटेन में यदि तेल, चिमनी और वत्ती भी हो, किन्तु उसे जलाने वाला न हो तो वह अन्धकार को दूर नहीं कर सकती। इसी प्रकार शरीर की इन्द्रियाँ प्राण की अनुपस्थिति में कार्य नहीं कर सकतीं।

एक बार इन्द्रियों में झगड़ा हो गया। प्रत्येक अपना महत्त्व दिखाने लगी। तब प्राण ने शरीर का त्याग करने का प्रयत्न किया। समस्त इन्द्रियाँ काँप उठीं। उनका दम घुटने लगा। तब प्राण ने कहा कि बिना उसके शरीर में स्थित हुए इन्द्रियों का होना व्यर्थ है। अतः सभी इन्द्रियों ने प्राण के सम्मुख घुटने टेक दिये। अतः शरीर में प्राण—आत्मा ही प्रमुख है। इसी आत्मा के विषय में चिन्तन करना चाहिए। यह हमारा स्वरूप है। यह न जन्मता है, न उसकी मृत्यु होती है —

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

यही कारण है कि हमारे पूर्वज हमें 'अमृतस्य पुत्राः'— अर्थात् 'हे अमृत की सन्तान', 'अमर सन्तान' कह कर पुकारा करते थे। उन्होंने यह नहीं कहा हि 'हे मृत्यु-ग्राह्य सन्तान'— ओ मरने वाली सन्तान।' उन्होंने दिव्य दृष्टि से देखा था; अपनी समाधि में अनुभव किया था कि इस क्षणभङ्गुर, नाशवान् शरीर के अन्दर एक शाश्वत, नित्य, शुद्ध तत्त्व विद्यमान् है। हमारे ऋषि-मुनियों की दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म थी। वे सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तत्त्वों को पहचान लेते थे, उन्हें देख लेते थे।

आपका निज-स्वरूप शान्तिमय, आनन्दमय, नित्य शुद्ध, परिपूर्ण है। वह निर्विकल्प तथा निर्विकार है, अपरिवर्तनशील है तथा समस्त द्वन्द्वों से परे है। इसे जानने से वढ़ कर संसार में कोई ज्ञान नहीं है। इसे प्राप्त करने से अधिक वड़ा कोई लाभ नहीं है। इससे बड़ी जीवन में कोई उन्नति नहीं है। इसी को जानने का प्रयत्न करें।

व्यक्ति प्रातःकाल उठता है और सबसे पहले उसे अपना ध्यान आता है। पशु को भी अपना ही ध्यान रहता है। भय, निद्रा, आहार तथा मैथुन की दृष्टि से दोनों समान हैं। अपनी सुरक्षा का विचार दोनों करते हैं। दोनों ही रात्रि को अथवा दिन को विश्राम के लिए निद्रा की शरण लेते हैं। पेट भरने के लिए दोनों को ही भोजन चाहिए तथा दोनों में ही विषय-भोगों की लालसा है। यदि मनुष्य भी केवल इन्हीं चारों वातों का दास होकर रह जाय तो उसमें तथा पशु में कोई अन्तर न रहे।

मनुष्य अपनी बुद्धि तथा विवेक की विशेषता के कारण ही विशिष्ठ है, मनुष्य है अन्यथा वह पशु ही है। बड़ी विचित्र तथा आश्चर्यजनक बात है कि मनुष्य पशु को वश में करके उससे काम लेता है और स्वयं उसे भी पशु की सेवा करनी पड़ती है। गऊ से दूध प्राप्त करने की लालसा से उसकी अनेक प्रकार से सेवा करते हैं; किन्तु अन्त में वह भी हमें छोड़ कर चली जाती है। हम उसे रोक नहीं पाते। स्वामी होने पर भी हम उसके दास बने रहते हैं।

कैसी विडम्बना है! जो मरने, मिटने वाला है, जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्या से सन्त्रस्त है, उसके लिए अनेक उपचार करने पड़ते हैं; किन्तु फिर भी हम विवश हैं। यह शरीर रोगों का घर है। शरीर के प्रत्येक अङ्ग में रोग रहते हैं। अज्ञानी मानव इस जर्जर, नाशवान्, परिवर्त्तनशील शरीर की दिन-रात सेवा करता है। सदा इसी के विषय में सोचता रहता है। किन्तु जो हमारी आत्मा है, नित्य, शुद्ध, शाश्वत, आनन्दमय स्वरूप है, उसके लिए हम न तो कुछ करते हैं, न उसका विचार ही करते हैं। फिर भी स्वयं को मानव कहते हैं और मानव कहे जाने के लिए चिन्तित तथा प्रयत्न-शील रहते हैं। पशु की भाँति शरीर से चिपके रहने पर, उसके प्रति आसक्त तथा उसमें लिप्त रहने पर हम पशु से उत्तम नहीं कहे जा सकते। अतः मानव और पशु का ठीक-ठीक अन्तर जान कर हमारे सभी कार्य मानवोचित होने चाहिए अन्यथा हम अपना अमूल्य समय व्यर्थ में, अज्ञान में ही नष्ट करते रहेंगे।

साधक अपनी पीड़ा को, कष्टों को कम करने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है; धूप-दीप जला कर, आरती करके,

अर्चना-वन्दना करके उनसे विनय करता है। भोग लगाता है—थोड़ा-सा भगवान् को देकर स्वयं खा लेता है—ये सब उसकी चतुराई है। वह समझता है कि उसकी इस चतुराई को कोई जान नहीं सकेगा। सम्भव है, अन्य कोई व्यक्ति इस बात को न भी जान सके; किन्तु जो सर्वज्ञ है, सर्वान्तर्यामी है, उससे तो कुछ भी छिपा नहीं है। अतः साधक को निस्स्वार्थ होकर ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिए। केवल उसी के लिए, उसकी महत्ता के कारण, प्रेम में विह्वल होकर उसकी महिमा का गुणगान करना चाहिए। जैसे विभीषण जी भगवान् राम की शरण गये थे। ईश्वर-प्राप्ति की कामना से ही ईश्वर की ओर बाहें फैलानी चाहिए, उसे अपनाना चाहिए अन्यथा यह सब पूजा-पाठ, जप-तप व्यर्थ होगा।

जीवन का क्या विश्वास! केवल इतना ही निश्चित है कि एक दिन इस देह को त्यागना है। कब, कहाँ और किस प्रकार आदि का उत्तर कोई नहीं दे सकता। जन्म के साथ ही जरा और व्याधि तथा अन्त में मृत्यु जुड़ी हुई है। न जाने कितने बालक जन्मते ही मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं; किशोरावस्था में, युवावस्था में भी खेलते-खाते तथा अनेक सांसारिक, वैषयिक सुखोपभोग करते-करते ही शरीर छूट जाता है और अन्त में वृद्ध होकर तो प्राणान्त होना ही है। बड़े-बड़े व्यक्तित्व वाले जिन्हें अमरता का वरदान भी मिला—जैसे रावण, हिरण्यकश्यपु, दुर्योधन, भीष्मपितामह आदि—इस देह को धारण नहीं कर सके, तब साधारण व्यक्ति की तो बात ही क्या है! फिर, आज तो मानव ने मरने के अनेक सरल साधन भी जुटा लिये हैं।

इन बतों पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

क्षणभर में हृदय की गति रुक जाने से अनायास ही मृत्यु हो सकती है। यह जानते हुए भी, देखते हुए भी कि बड़े-बड़े राजा, सेठ तथा अधिकारी हृदय-रोग के कारण बिना पूर्व-सूचना के संसार छोड़ रहे हैं—यह मानव अपने जीवन पर विचार नहीं करता। वह संसार में और अधिक उलझने के लिए निरन्तर प्रयत्न कर रहा है। इससे मुक्ति का उपाय खोजना चाहिए। एक क्षण भी नष्ट नहीं करना चाहिए। अब भी समय है। किन्तु यही माया है जो कि सब-कुछ जानते हुए भी उसके लिए प्रयत्न नहीं करने देती—उससे विमुख रखती है।

बचपन खेलने-खाने में निकल जाता है। यौवनावस्था में वह स्वयं को संसार का स्वामी मान बैठता है। बड़े-बड़े कल्पना के प्रासाद खड़े करता है; किन्तु परिणाम वही होता है, जो कि विना नींवँ के मकान अथवा रेत पर खड़े महल का होता है। यदि कोई व्यक्ति क्षितिज में महल बनाना चाहे और उस ओर बढ़ता रहे, तो क्या वह कभी पहुँच सकता है? यह तो मृगतृष्णा है जो कभी शान्त नहीं होती। वृद्धावस्था में भजन को, जप की बात व्यक्ति सोचता है; किन्तु उस समय न वह देख सकता है, न सुन सकता है और न उसका मन उसके साथ रहता है। तब उससे कुछ नहीं होता और वह हताश तथा निराश होकर अपनी भूलों के सम्मुख घुटने टेक देता है। 'फिर पछताये क्या होत है, जब चिड़ियाँ चुग गयीं खेत।' यदि व्यक्ति सोचने लगे कि 'जब सागर की लहरें कम होंगी, तभी स्नान करूँगा'—तब वह जीवनभर सागर के तट पर ही बैठा रहेगा, स्नान नहीं कर सकेगा; क्योंकि 'न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेगी।'

साधक को साधना तुरन्त प्रारम्भ कर देनी चाहिए। काल किसी भी समय हम पर झपट सकता है; वह पूर्व-सूचना नहीं देगा।

गुरुदेव स्वामी शिवानन्द जी महाराज ने इसी ज्ञान का प्रचार तथा प्रसार करने के लिए यह 'ज्ञान-यज्ञ' प्रारम्भ किया तथा आध्यात्मिक एवं नैतिक पुनरुत्थान के लिए, जागृति के लिए निरन्तर अनूठा प्रयत्न किया। आप सब शिवानन्द-परिवार के व्यक्ति हैं। अतः आज ही से उनके उपदेशों पर ध्यान देकर आत्म-साक्षात्कार के लिए कटिबद्ध होकर प्रयास करना चाहिए। आपको यह दृढ़ सङ्कल्प कर लेना चाहिए कि हम सभी ज्ञान-प्राप्ति के लिए, भगवत्प्राप्ति के लिए ही जीवन-यापन करेंगे तथा इसी जीवन में अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेंगे।

[२७-१-७४ को बमकुई में दिया गया प्रवचन।]

१२. माताओं तथा छात्रों को सन्देश

विद्यार्थियों को उपदेश देना माता-पिता, अभिभावक तथा शिक्षक का कार्य है। महिलाओं का उपदेश देना वृद्ध महिलाओं का कार्य है। मैं इनमें से कोई भी नहीं हूँ; किन्तु फिर भी संन्यासी होने के कारण सभी को उपदेश कर सकता हूँ। अपने विचारों से, आध्यात्मिक विचारों से आपको अवगत करा सकता हूँ; उपदेशों का आधार वता सकता हूँ। मेरा सभी को एक यही उपदेश है कि आप लोग मोह-माया-ममता का, राग-द्वेष का त्याग करें तथा उनके बन्धन से स्वयं को मुक्त करलें। जीवन में स्वाधीन वनें।

व्यवहार की दृष्टि से मैं कुछ अन्य वातें भी कहना आवश्यक समझता हूँ जिनको सुनने के लिए आप सभी यहाँ एकत्र हुए हैं। यहाँ विगत नौ दिनों से रामायण का पारायण चल रहा है। रामचरितमानस में विद्यार्थियों तथा महिलाओं के लिए अनेक उपयोगी तथा उनके जीवन को सफल वनाने वाली ज्ञान की बातें हैं। माताओं के लिए माता सीता का जीवन तथा विद्यार्थियों के लिए श्रीराम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न का जीवन एक आदर्श है।

माताओं के लिए उपदेश—

नव-विवाहित सीता जव अयोध्या आयीं तो उन्होंने अपनी सेवा-सुश्रूषा से सभी को प्रसन्न तथा मुग्ध कर दिया। वे राज-

कुमारी थीं, बड़े लाड़-प्यार में पली थीं, किन्तु विवाह के पश्चात् उन्होंने अपने समूचे जीवन को अपने पति के अनुकूल ढाल लिया।

श्रीराम के राज्याभिषेक की पूरी तैयारी हो चुकी थी। अगले दिन सीता जी पटरानी बनने वाली थीं। राजा दशरथ ने इस सङ्कल्प की घोषणा करा दी थी। नगर की शोभा देखने योग्य थी। घर-घर मङ्गलाचरण हो रहा था। सीता जी का भाग्य उदय होने जारहा था। किन्तु विधि का कुछ और ही विधान था। प्रातःकाल हुआ; किन्तु रात्रि मानो स्वयं रातभर सो नहीं सकी—जागती रही, परिणाम स्वरूप उसे प्रातःकाल नींद आगयी। प्रातःकाल तो हुआ; किन्तु अयोध्या में जैसे अन्धकार छा गया। परिस्थितियाँ बदल गयीं। वातावरण बदल गया। कल तक जहाँ प्रसन्नता का पारावार नहीं था, आज वही अयोध्या उदासी के सागर में डूब गयी। श्रीराम को वनवास की आज्ञा मिल गयी।

माता सीता को सूचना मिली। क्या दशा होगी उनके हृदय की? जो रातभर रानी बनने का स्वप्न देखती रही—वह प्रातः भी स्वप्न ही रह गया। उन्होंने बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ की होंगी। इस विलक्षण तथा अद्भुत दृश्य को देखने की बड़ी लालसा रही होगी उसके मन में। फिर मानो तुषारापात हो गया हो। उस समय उनकी अवस्था ही क्या थी—बाल्या-वस्था थी।

किन्तु क्षण मात्र में ही परिस्थितियों को माप कर उन्होंने राजसी वस्त्राभूषण उतार दिये तथा वल्कल वस्त्र पहन लिये। राज्य का सुख-ऐश्वर्य त्याग कर अपने पति के साथ वन में

रहने का निश्चय कर लिया। वे इस निर्णय का विरोध कर सकती थीं, श्रीराम को अपने न्यायोचित अधिकार की प्राप्ति के लिए उकसा सकती थीं। इतना ही नहीं; स्वयं तो अयोध्या में रहने का निर्णय ले ही सकती थीं; क्योंकि वनवास तो श्रीराम को ही मिला था—सीता जी को नहीं। किन्तु वे स्वयं यह मानती हैं कि माता-पिता की आज्ञा का पालन करना धर्म है, अतः श्रीराम अपने धर्म का पालन करें। साथ ही स्त्री का धर्म है, अपने पति की सेवा—यह विचार कर वे स्वयं भी वन-गमन के लिए तैयार हो जाती हैं।

भगवान् राम सीता जी के सम्मुख वन का भयानक चित्रण करते हैं, कड़ी धूप तथा ठिठुरते शीत एवं तूफानों की चर्चा करते हैं। वन्य पशुओं का भय दिखाते हैं, कङ्कड़-पत्थर तथा काँटों भरे रास्ते की दुरूहता समझाते हैं; किन्तु सीता जी को संसार का कोई भी कष्ट, दुःख अपने निर्णय से डिगा नहीं सका। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि ये सब कष्ट भगवान् के वियोग की अपेक्षा कम हैं तथा उनकी यह उक्ति कि—**'मैं सुकुमार नाथ बन जोगू'** अकाट्य है। भगवान् को उनके सम्मुख झुकना पड़ा।

हमारे देश की नारियों की यही स्वस्थ परम्परा रही है और इसी परम्परा को सदा जीवित रखना चाहिए। इसी प्रकार राजपूत नारियाँ भी अपने पति को युद्ध-भूमि में धरती माँ की, जन्म-भूमि की रक्षा के लिए सहर्ष भेज देती थीं। स्वयं तिलक करके उन्हें विदा कर देती थीं। यह था हमारे देश का गौरव जिसे माताएँ सुरक्षित रखती थीं।

आज समय बदल गया है। यूँ तो परिस्थितियाँ भी

बदली हैं; किन्तु पाश्चात्य संस्कृति की नकल के कारण हमारे देशवासी, विशेष रूप से माताएँ बहुत शीघ्रता से बदल रही हैं। यह खेद का विषय है।

वर्त्तमान काल में विवाह के वाद जब वधू अपने पतिगृह में प्रवेश करती है तो वह कुछ ही समय में पति के माता-पिता से उसे अलग रहने की कुसम्मति देती है। जीवनभर माता-पिता स्वयं दुःख सह कर, भूखे-नङ्गे रह कर, वड़ी कठिनाई से और कभी-कभी तो उधार लेकर भी अपने वच्चों को शिक्षा प्रदान कराते हैं। उनकी एकमात्र आशा उनका वह पुत्र ही होता है, जिसके आश्रय से वे अपनी वृद्धावस्था के दिन काटने का विचार करते हैं; किन्तु दुर्भाग्य से वह पुत्रवधू जिस पर माता-पिता भी आशा लगाये बैठे रहते हैं, जिसे वह 'गृहलक्ष्मी' समझ कर घर में प्रवेश कराते हैं—वही पुत्रवधू उनके कष्टों का, पीड़ा का कारण बन जाती है। पुत्र माता-पिता को छोड़ने में विलम्ब नहीं करता। पत्नी को तो यह चाहिए कि यदि पति माता-पिता को छोड़ना भी चाहे, तो भी अपने स्नेह तथा आकर्षण का प्रभाव डाल कर अपने पति को कुपथ पर जाने से रोके, उसे सुपथ पर जाने की प्रेरणा दे।

माताओं को अपने वच्चों के स्वास्थ्य के प्रति सदा सजग रहना चाहिए। उन्हें बालकों के आहार के सम्बन्ध में थोड़ा ज्ञान भी प्राप्त करना चाहिए। बच्चों के साथ ही परिवार के अन्य प्राणियों के स्वास्थ्य का भार भी उन्हीं पर है। कभी-कभी वे अपने स्वास्थ्य के प्रति उदासीन रहती हैं। यह उनकी भूल है। उनके स्वयं के अस्वस्थ रहने से परिवार के अन्य सभी व्यक्तियों पर उसका प्रभाव पड़ता है तथा कठिनाई

होती है। अतः *Precaution is better then cure* (रोग के उपचार की अपेक्षा रोकथाम उत्तम है)।

नारी की दैवी सम्पदा है—सेवा तथा निस्स्वार्थता और निष्कामता। जिस घर में नारी निस्स्वार्थ भाव से सेवा करती है, वहाँ ईश्वर का निवास होता है। ऐसी स्त्री पूजनीय है। उसका घर किसी आश्रम से कम नहीं है।

त्यागमय जीवन स्त्री का आभूषण है। प्रत्येक नारी आभूषणों को धारण करना चाहती है, यह उसकी आन्तरिक लालसा है। अतः नारी को ऐसे आभूषण धारण करने चाहिए जिनकी चोरी का भय न हो, जो घिसने से नष्ट न हो सकें। वे आभूषण सेवा, त्याग, स्नेह तथा निस्स्वार्थता हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ और भी बातें हैं जो एक 'गृह-लक्ष्मी' में होनी आवश्यक हैं—

(१) परस्त्री की निन्दा का सर्वथा त्याग करना चाहिए। निन्दा करने से अपना समय तो नष्ट होता ही है, साथ ही अपने हृदय में राग-द्वेष भी उत्पन्न हो जाता है जिससे मन सदा अशान्त रहता है।

(२) सदा सत्सङ्ग के लिए समय निकालने को प्रस्तुत रहना चाहिए। अन्य स्त्री के साथ यदि चर्चा करें तो वह किसी की प्रशंसा ही हो—सांसारिक बात न हो।

(३) क्रोध का सर्वदा त्याग करना चाहिए। क्रोध ही सर्वनाश का कारण है। गीता में भी भगवान् कृष्ण ने यही बात कही है। क्रोध पर नियन्त्रण करने का धीरे-धीरे प्रयत्न करें।

(४) नारी पराशक्ति तथा जगन्माता के रूप में है। उसका कार्य सन्तान का पालन करना तथा रक्षा करना है। नारी को अपनी शक्ति रचनात्मक कार्यों में लगानी चाहिए कोई कार्य ऐसा न हो जिससे सङ्घर्ष तथा विनाश हो।

(५) स्त्रियों में ईर्ष्या की भावना अधिक होती है। दूसरी स्त्रियों के सौभाग्य को देख कर, उनके ऐश्वर्य को देख कर वे उनसे ईर्ष्या करने लगती हैं। वास्तव में उन्हें प्रसन्न होना चाहिए। अन्य स्त्रियों को अपनी बहनें मान कर उनसे सहयोग करना चाहिए।

(६) यहाँ मैं यह बात विशेष रूप से कहना चाहता हूँ कि परिवार में यदि कोई व्यक्ति आध्यात्मिक प्रवृत्ति का हो तो उसे उसके मार्ग पर बढ़ने का पूर्ण अवसर देना चाहिए। अनेक स्त्रियाँ अन्ध-ममता के कारण तथा अपने भोगों में न्यूनता के कारण पुरुषों पर अङ्कुश लगाना चाहती हैं। यह उनकी भूल है। वे समझती हैं कि भजन, कीर्त्तन, जप, ध्यान करने से पति योगी अथवा संन्यासी हो जायगा। जबकि यह प्रमाण सिद्ध है कि अधिक अङ्कुश लगाने से वैसा ही करने का भाव प्रबल रूप धारण कर लेता है। जो व्यक्ति अपनी धार्मिक प्रवृत्तियों को घर पर रह कर स्वतन्त्रतापूर्वक पूरा कर लेते हैं, उन्हें घर से भागने की आवश्यकता नहीं पड़ती; किन्तु जिन पर पत्नियों का कठोर अङ्कुश रहता है, ऐसे पति घर से ऊब कर, समय पाकर घर छोड़ कर सदा के लिए विरक्त हो जाते हैं।

स्त्रियों को यह मान लेना चाहिए कि अङ्कुश द्वारा पति को बाँध कर घर पर नहीं रखा जा सकता। समझौता करके,

स्वतन्त्रता देकर, अपने स्नेह तथा अपनी नम्रता एवं शील से पति को रोका जा सकता है। इन सभी बातों पर गम्भीरता से चिन्तन करना चाहिए।

विद्यार्थियों के लिए—

माताओं के लिए मैंने कुछ विचार अभी रखे हैं। अब मैं विद्यार्थियों के लिए कुछ बुनियादी बातें कहना चाहूँगा। *'The child is the father of the man'*. इसका अर्थ यही है कि छोटा-सा पौधा ही विकसित होकर विराट् वृक्ष का रूप धारण करता है। बालकों का लालन-पालन जैसा होगा, जिन परिस्थितियों में होगा, वैसे ही संस्कार उनमें पड़ेंगे तथा वैसे ही जीवन भर वे बने रहेंगे। अतः बचपन से ही उनके सम्बन्ध में विचार किया जाना चाहिए।

आजके बालक (विद्यार्थी) कल के शासक हैं; देश के कर्णधार हैं। **'बोया पेड़ बबूल का, तो आम कहाँ से होय'** वाली कहावत पर सदा ध्यान रखना चाहिए। यदि प्रारम्भ से बालकों को अच्छी शिक्षा नहीं मिलेगी तो न तो उनका विकास होगा और न वे किसी भी उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य के लिए योग्य बन सकेंगे।

विद्यार्थियों तथा युवकों को भी इस बात पर सदा ध्यान रखना चाहिए कि युवावस्था मात्र खेलने का समय नहीं है, वरन् अपनी समस्त शक्तियों को सञ्चित कर रचनात्मक कार्यों में लगाने का समय है। यह निर्माण का समय है, विकास का तथा प्रगति करने का समय है।

विद्यार्थियों का दृष्टिकोण यह होना चाहिए कि जो उनसे

बड़े हैं, गुणी हैं तथा विद्वान् हैं, उत्तम तथा अनुभवी हैं, उनके सम्मुख नम्र होकर कुछ ग्रहण करें। माता-पिता तथा गुरु के प्रति 'रामचरितमानस' वाला भाव सदा रहना चाहिए—

'मात पिता अरु गुरु की बानी,
बिनहिं विचार करिअ शुभ जानी।'

भगवान् राम आदि भाइयों का यही आचरण था। यही हमारी संस्कृति की देन है। यही आदर्श जीवन का आधार है।

हमारे विद्यार्थि-युवक आज अपने से बड़ों के दोष खोजने लगे हैं। दोष-दर्शन से गुणों का अर्जन तो होगा नहीं, इसके विपरीत वे दोष चुपके से आपके अन्दर प्रवेश कर जायेंगे।

विद्यार्थियों को अपने जीवन का लक्ष्य सदा स्मरण करते रहना चाहिए। शिक्षा का अर्थ रोटी-कपड़ा प्राप्त करना नहीं है, वरन् इससे ऊपर उठ कर मनुष्य को मनुष्य बनाना है। एक अशिक्षित, पिछड़ा हुआ, गरीब भी अपना तथा अपने परिवार का पेट पाल लेता है, तब आप लोग इतना पढ़ कर, बी० ए०, एम० ए० की डिग्रियाँ लेकर भी यदि यही कर सके, तब उसमें और आपमें अन्तर क्या रहा?

विद्यार्थियों को समझना चाहिए कि इस अध्ययन-काल में उन्हें पूर्ण रूप से अपना समय ज्ञान-प्राप्ति में लगाना है। पशु और मनुष्य के अन्तर को खोजना है तथा उसके अनुरूप आचरण करना है।

शिक्षा का आधार आध्यात्मिकता है। विद्यार्थियों को आध्यात्मिक, नैतिक मूल्यों के सम्बन्ध में जानना चाहिए।

अपनी प्राचीन गौरवपूर्ण संस्कृति का प्रतीक बनना चाहिए। अपने ऋषि-मुनियों की धरोहर सँभाल कर रखनी चाहिए।

समय का सदुपयोग करना सीखना चाहिए। समय अमूल्य है। यदि इस समय को व्यर्थ की गप-शप में, नाटक-सिनेमा में, उपन्यास तथा समाचार-पत्रों में नष्ट कर दिया तो जीवन भर पछताना पड़ेगा।

आप लोग आजकी पाश्चात्य तकनीकी प्रगति की चकाचौंध में हैं; किन्तु वह एकाङ्गी प्रगति है। जब तक अन्तर्बाह्य उन्नत तथा विकसित नहीं होगा—आपका व्यक्तित्व अधूरा रहेगा। मैं इस बात को जानता हूँ। मैंने संसार के अनेक देशों में देखा है कि वहाँ के युवक, विद्यार्थी उच्छृङ्खल हो रहे हैं, अनुशासनहीन हो रहे हैं। इस देश में भी कुछ लहर आयी है। पाश्चात्य प्रभाव दीख पड़ता है। किन्तु तनिक विचार कीजिए कि विदेशों के तथाकथित उन्नत और शिक्षित विद्यार्थी भारत में आकर अर्द्धनग्नावस्था में रह रहे हैं। वे भोगों से ऊब चुके हैं। जीवन की कृत्रिमता तथा शून्यता ने उन्हें जर्जर बना दिया है। अब वे शिक्षा का, जीवन का रहस्य समझने लगे हैं।

किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि आप लोग जिनके पास आध्यात्मिक शक्ति की पूंजी है, जो आपको विरासत में मिली है—आप उसका उपयोग नहीं करते। आप महान् हैं, दिव्य हैं। आप अमृत-पुत्र हैं। आप निर्भय हैं, आनन्दमय हैं। यही विचार सदा रहना चाहिए।

अन्त में एक महत्त्वपूर्ण बात कहना चाहूँगा कि आप युवा-

विद्यार्थियों को ब्रह्मचर्य का कठोरता से पालन करना चाहिए। आप लोग ब्रह्मचर्याश्रम में हैं। मन, वचन तथा कर्म से 'ब्रह्मचर्य' के पालन के अभाव में आपके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो सकता।

अपने स्वरूप को पहचानिए, अपने लक्ष्य को जानिए तथा शिक्षा के उद्देश्य पर विचार कीजिए। अपने उत्तरदायित्व के प्रति, कर्त्तव्यों के प्रति जाग्रत रहिए।

[२८-१-७४ को छात्र तथा महिला सम्मेलन, बमकुई में दिया गया प्रवचन।]

१३. नव-दीक्षितों को सदुपदेश

इस मध्याह्न काल की पवित्र आरती के समय आप सबको इस बात पर विचार करना चाहिए कि आप परमपिता परमात्मा की सन्तान हैं, उन्हीं के अंश हैं; अतः अपने जीवन को परमात्मा के साथ किसी-न-किसी प्रकार जोड़ दें।

सांसारिक सम्बन्ध अनित्य, अशाश्वत तथा अपूर्ण हैं। जब हम उन परिवर्तनशील तथा अस्थिर सम्बन्धों से अपना तादात्म्य जोड़ते हैं, तभी दुःखी होते हैं और तभी अशान्ति का अनुभव करते हैं। हमारे ऋषि-मुनि, जो द्रष्टा थे, जिन्होंने अपनी समाधि में आत्म-साक्षात्कार किया, उन्होंने यह घोषणा की कि एकमात्र ईश्वर ही नित्य, शुद्ध, शाश्वत तथा पूर्ण है। उसी का ज्ञान तथा उसी में स्थित होने से ही परम शान्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति हो सकती है। यही हमारे जीवन का प्रमुख तथा महत्त्वपूर्ण कार्य है।

जीवन के चार पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। अर्थ और काम जब तक धर्मपरायण नहीं होंगे, तब तक वे मोक्ष-प्राप्ति के साधन नहीं बन सकते। मोक्ष ही मुक्ति है। इस बात का ज्ञान प्राप्त किये बिना यदि यह शरीर छूट गया, तो यह अमूल्य जीवन, यह जन्म ही व्यर्थ हो गया।

हमने अपना ज्ञान, अपनी संस्कृति वेदों से प्राप्त की है। वेद अपौरुषेय हैं। वे स्वयं ईश्वर के बनाये हुए हैं। वे मानव-निर्मित नहीं हैं। इसी लिए उन वेदों पर आधारित हमारा धर्म सनातन धर्म कहलाता है। यही अन्य समस्त सम्प्रदायों की जननी है—उनका पिता है।

भगवत्प्राप्ति की अनेक पद्धतियाँ हैं। हमारे ऋषि-मुनियों ने अपनी अनुभूति से तथा अधिकारी-भेद से ईश्वर-प्राप्ति के अनेक मार्ग प्रकाशित किये हैं। उनमें से एक के विषय में मैं यहाँ चर्चा करूँगा तथा आप इस पर ध्यान से विचार कीजिए।

हमारे पूर्वजों ने उस नित्य-शुद्ध तत्त्व को निराकार-निर्गुण तथा साकार-सगुण कहा है। निराकार-निर्गुण तत्त्व अव्यक्त है, अप्रत्यक्ष है। साकार-सगुण तत्त्व प्रकट है, प्रत्यक्ष है। इन दोनों के मध्य में अर्थात् अप्रकट तथा प्रकट होने के मध्य के केन्द्र में एक विश्वात्मक नाद प्रकट हुआ, जिसे 'नाद-ब्रह्म' तथा 'शब्द-ब्रह्म' कहते हैं। यही निराकार-निर्गुण तत्त्व तथा साकार-सगुण तत्त्व के मध्य की कड़ी है।

इसी 'नाद-ब्रह्म' के आधार पर एक सम्पूर्ण ग्रन्थ की रचना की गयी है जिसे 'जप-योग', 'नाम-साधन' कहते हैं। यह प्राचीन काल से अब तक उसी रूप में चला आ रहा है। 'गुरु-शिष्य-परम्परा' ने इस ज्ञान की कड़ी को टूटने नहीं दिया; अतः यह उसी प्रकार विद्यमान है और प्रचलित भी है। उसकी महिमा को श्री भगवान् ने स्वयं कहा है—

'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'.........

इस प्रकार भगवान् मन्त्र के रूप में स्वयं यहाँ विराजमान रहते हैं।

सन्त लोग भी पुकार-पुकार कर कहते रहे हैं और आज भी कहते हैं कि नाम और नामी में कोई भेद नहीं है। कभी-कभी तो सन्त लोग नामी से अधिक नाम की महिमा मानते हैं। गोस्वामी जी लिखते हैं—

'कलियुग केवल नाम अधारा।'

श्रीमद्भागवत में भी 'हरेर्नामैव केवलम्' कहा गया है।

चार युगों में कलियुग चौथा युग है। सत्ययुग, त्रेता तथा द्वापर में मनुष्य शक्तिशाली था, योग्य तथा बुद्धिमान् था। उसके पास अनेक शक्तियाँ थीं। वह अनेक लोकों में चला जाता था; अतः उन युगों में भगवान् स्वयं धरती पर अवतरित होकर अपने भक्तों को दर्शन दे देते थे। किन्तु कलियुग में मनुष्य की शक्ति, उसकी बुद्धि तथा योग्यता नष्टप्राय हो गयी; अतः भगवान् का रूप प्रकट में दिखायी नहीं देता। वह दिव्य दृष्टि नहीं रही।

कलियुग का विचार कर पहले ही भक्तों ने भगवान् से प्रार्थना की थी कि 'इस कलिकाल में, जब न शक्ति होगी, न बुद्धि तथा अधर्म का बोल बाला होगा; धरती, गो, ब्राह्मण पर अत्याचार होंगे, तब इनकी रक्षा कैसे होगी?' भगवान् ने भक्तों की इस लोक-कल्याण से प्रेरित भावना पर द्रवित होकर उन्हें आश्वासन देते हुए कहा—'मैं जानता हूँ कि मेरी आवश्यकता कलियुग में अधिक होगी। अतः तुम चिन्तित मत होओ। मैं अपने से भी एक बड़ी शक्ति कलियुग के लिए

छोड़ रहा हूँ। उस 'तत्त्व' पर जो विश्वास करेगा, जो उसमें मुझे देखेगा, मैं प्रकट हो उठूँगा।' और इसके बाद भगवान् ने अपना 'नाम' प्रकाशित किया। इस 'नाम' में ही नामी प्रत्यक्ष प्रकट है।

यही 'नाम' जो मन्त्र-रूप में प्रकट है, ऋषियों ने अपनी समाधि में अनुभूति से प्राप्त किया है। मन्त्र के ज्ञाता को 'मन्त्रद्रष्टा' कहते हैं। जिस ऋषि के द्वारा जो भी मन्त्र प्रकट हुआ, वह उसी ऋषि के नाम से पुकारा जाता है। उसका अपना 'इष्ट-देव' है तथा उसका अपना पृथक् फल है।

मन्त्र-जप का एक विधान है। उसी विधानानुसार मन्त्र-जप से सुप्त चैतन्य जाग्रत होने लगता है तथा मन की अवस्था भी जाग्रत होने लगती है। अन्ततोगत्वा निरन्तर मन्त्र के जप से नियमित समय में मन्त्र सिद्ध हो जाता है तथा मानव (जीवात्मा) परमात्मा का साक्षात्कार कर कृतकृत्य हो जाता है तथा परमानन्द प्राप्त करके मुक्त हो जाता है।

निरन्तर मन्त्रोच्चारण ही साधक के जीवन को सर्वथा बदल देता है, दुर्गुणों का लोप होता जाता है तथा सद्गुणों का विकास होने लगता है, तमोगुण तथा रजोगुण सतोगुण में परिवर्त्तित हो जाते हैं।

मन्त्र साक्षात् भगवान् है। उसके जप से वहिर्मुख वृत्तियाँ अन्तर्मुख हो जाती हैं; मन तथा इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं; मन का विक्षेप मिट जाता है; इस प्रकार एकाग्र चित्त से किया गया मन्त्र-जप साधक को ध्यानावस्था में पहुँचा देता है तथा अन्ततोगत्वा जब जप-सहित ध्यान जप-रहित ध्यान में

परिणत हो जाता है तो समाधि की अवस्था में उसे आत्म-साक्षात्कार हो जाता है। यही 'मन्त्र-योग' का आन्तरिक गूढ़ अर्थ है।

हमारे पूर्वजों ने, ऋषियों ने स्वयं अपने अनुभव से मन्त्र सिद्ध किये तथा अपने शिष्यों को यह ज्ञान दिया। इसी प्रकार आज भी यही परम्परा चल रही है तथा उसका वैसा ही महत्त्व बना हुआ है। आज भी अनेक सन्त उस स्थिति में पहुँच कर साक्षात्कार करते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण आज भी उपस्थित हैं।

अतः जब कोई साधक (शिष्य) अपने गुरु से कोई मन्त्र प्राप्त करता है, तो वह अपनी प्राचीन सञ्चित शक्ति को ही प्राप्त करता है। यही जप उसकी साधना का प्रमुख अङ्ग बन जाता है। इसके लिए कोई विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं है, वरन् गुरु-श्रद्धा तथा विश्वास ही अपेक्षित है। गुरु के चरणों में आत्म-समर्पण करना नितान्त आवश्यक है।

अन्य प्रकार की पद्धतियों में नाना प्रकार की साधनाएँ चलती हैं। अधिकारी-अनधिकारी का भेद रहता है; किन्तु मन्त्र-जप तो अनधिकारी को अधिकारी, अपवित्र को पवित्र तथा पतित को उन्नत बना कर ईश्वर से जोड़ देता है।

मन्त्र-दीक्षा के नियम

गुरु में पूर्ण श्रद्धा तथा विश्वास रखना चाहिए तथा उसे पूर्ण रूप से आत्म-समर्पण करना चाहिए।

गुरु के द्वारा दीक्षा के समय दिये गये सभी निर्देशों का पूर्णरूपेण पालन करना चाहिए।

यदि गुरु ने विशेष नियमों का उल्लेख न किया हो तो निम्नलिखित सर्वसाधारण नियमों का पालन करना चाहिए—

१—मन्त्र-जप से कलियुग में ईश्वर साक्षात्कार हो जाता है—इस बात पर विश्वास रखना।

२—मन्त्र-प्राप्ति की क्रिया अत्यन्त पवित्र कार्य है। इसे मन-बहलाव का साधन नहीं मानना चाहिए। एक-दूसरे को देख कर दीक्षा लेना उचित नहीं है। स्वयं मन स्थिर करने के बाद ही गुरु की शरण जाना चाहिए।

३—मन्त्र को ही भगवान् मानना चाहिए तथा गुरु में ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन करने चाहिए।

४—मन्त्र-दीक्षा के बाद साधक को अपना जीवन बदलना चाहिए। उसे सांसारिक सुखों की प्राप्ति का माध्यम नहीं वरन् भगवत्प्राप्ति का माध्यम बनाना चाहिए।

५—मन्त्र-दीक्षा के पश्चात् मन्त्र-जप छोड़ देना महा-पाप है। इससे मन्त्र का अपमान होता है तथा साधक को हानि की भी सम्भावना है।

६—साधक को आसुरी प्रवृत्तियों का—काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या-द्वेषादि का त्याग करके दैवी सम्पदा, सेवा, त्याग, दान, प्रेम, क्षमा, विनम्रता आदि की प्राप्ति का प्रयत्न करते रहना चाहिए।

१०—गृहस्थी को व्यवहार की दृष्टि से आवश्यक मान

कर अपना कर्त्तव्य करना चाहिए; किन्तु उसे गौण कार्य मानना चाहिए। समस्त परिवार का जीवन आध्यात्मिक बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। मन-वचन-कर्म से सत्य, अहिंसा तथा ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

८ प्रति सप्ताह, उस दिन एक समय फलाहार करना चाहिए जिस दिन (वार को) मन्त्र-दीक्षा ग्रहण की हो तथा वर्ष के अन्त में उपवास करना चाहिए।

९—भगवान् को निराकार-निर्गुण तथा साकार-सगुण दोनों रूपों में देखना चाहिए। ईश्वर को ही नाना रूपों में जान कर श्री राम, कृष्ण, शङ्कर, गणेश, विष्णु भगवान्, दुर्गा, लक्ष्मी तथा सरस्वती आदि किसी भी देवी-देवता में अन्तर नहीं करना चाहिए। सभी के इष्ट-देव सर्वत्र, सर्वज्ञ, सर्वात्मा तथा सर्वान्तर्यामी हैं। अतः किसी के इष्ट-देवता के प्रति विरोध न करे। हाँ, वह अपने इष्ट-देवता में अधिक विश्वास रख सकता है, उनसे अधिक प्रेम कर सकता है; किन्तु इसका दूसरे के इष्ट पर प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए।

भगवान् ने गीता में कहा है—

'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥' तथा
'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः॥' आदि

इसी प्रकार गोस्वामी जी भी लिखते हैं—

सिया राम मय सब जग जानी।
करहुँ प्रनामु जोर जुग पानी॥

अतः व्यवहार में दोनों दृष्टियाँ ही रखनी चाहिए। यह सभी रूप एक ही ब्रह्म के प्रतीक हैं।

एकं सद्‌विप्रा बहुधा वदन्ति ।

१०—अपना इष्ट-मन्त्र गुप्त रखना चाहिए। यदि पति-पत्नी, एक ही गुरु के शिष्य हों तो वे अपनी परस्पर की इच्छा से मन्त्र प्रकट कर सकते हैं।

११—पति-पत्नी यदि एक ही गुरु से दीक्षा लें तो अति-उत्तम है; किन्तु यह नितान्त आवश्यक नहीं है।

१२—लिखित मन्त्र-जप भी करना चाहिए तथा उसे किसी पवित्र स्थान में सुरक्षित रखना चाहिए। उससे वाता-वरण शुद्ध रहता है।

१३—मन्त्र-जप के लिए एक पूजा का कमरा अथवा कोई निश्चित स्थान सम्भव हो तो उत्तम है। उस स्थान को अपवित्र न होने दें।

१४—प्रत्येक समय अपने गुरु की तथा इष्टदेव की उप-स्थिति का अनुभव करते रहना चाहिए।

१५—प्रत्येक दीक्षित दम्पति को एकपत्नीव्रत तथा पति-व्रत धर्म का पालन करना चाहिए।

१६—अपने घर का स्वामी गुरु तथा इष्टदेव को मान कर स्वयं प्रन्यासी (ट्रस्टी) की भाँति कार्य करना चाहिए।

१७—पति-पत्नी को एक मन्त्र भी दिया जा सकता है तथा मन्त्र भिन्न भी हो सकते हैं।

१८—मन्त्र की शक्ति पर विश्वास रखें। इससे समस्त भूत-पिशाच भाग जाते हैं।

१९—नित्य कम-से-कम ११ मालाओं का जप करना चाहिए। प्रातः तथा सन्ध्या को नियमपूर्वक जप करना चाहिए।

२०—अन्त में वह स्थिति आ जानी चाहिए कि निरन्तर उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते, काम करते तथा सोते समय भी जप चलता रहे।

आप सभी को गुरुदेव स्वामी शिवानन्द जी का अनुग्रह प्राप्त हो—यह मेरी हार्दिक कामना है। ईश्वर आप सभी को शान्ति, आनन्द तथा समृद्धि प्रदान करे! सदा आप उन्नति करते रहें और इसी जीवन में भगवत्साक्षात्कार करें!

[२८-१-७४ को वमकुई में नव-दीक्षितों को दिया गया सन्देश।]

१४. सत्सङ्ग का स्वरूप

आप सब भक्तों के दर्शन करके मैं बड़ी प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। इस सन्ध्या वेला में आपके सम्मुख कुछ भगवच्चर्चा करने का मुझे आप लोगों ने जो सुअवसर दिया है, इसे मैं ईश्वर का अनुग्रह ही मानता हूँ। भक्तों के दर्शन बड़े दुर्लभ होते हैं। भक्तों के बीच बैठ कर सत्सङ्ग का लाभ उठा कर जो प्रसन्नता होती है, उसे केवल भक्त लोग ही जान पाते हैं।

सत्सङ्ग की महिमा अपार है। भगवान् शङ्कराचार्य, जो कि पूर्ण वेदान्ती थे, उन्होंने भी सत्सङ्ग की जो महिमा बतायी है, उसे पढ़ कर आश्चर्य होता है। उनके अनुसार संसार में सबसे दुर्लभ बात है सन्त का मिलन तथा सत्सङ्ग। कारण यह है कि केवल सत्सङ्ग में ही भगवच्चर्चा करने का अवसर मिलता है, शेष समय तो लौकिक चर्चा में ही निकल जाता है।

सांसारिक बातों में हमारी वासनाओं में वृद्धि होती है। अस्पताल में जाकर अच्छा व्यक्ति भी रोगी हो जाता है। रोगियों की दशा देख-देख कर, उनकी बातें सुन-सुन कर साधारण रोगी स्वयं को अधिक रोगी अनुभव करने लगता है। जब रोग अधिक बढ़ जाता है तो डाक्टर भी जलवायु-

परिवर्त्तन के लिए पहाड़ पर या अन्य किसी सुन्दर स्थान पर घूमने की सम्मति देता है। स्थान-परिवर्त्तन से जिस प्रकार रोगी शीघ्र ही ठीक हो जाता है, उसी प्रकार सांसारिक व्यक्ति दिन-रात पारिवारिक तथा सामाजिक झगड़ों में उलझा रहने के बाद जब सत्सङ्ग-लाभ करता है तो उसके मन-मस्तिष्क को शान्ति का, आनन्द का अनुभव होता है। विषय के परिवर्त्तन से वह आत्म-लाभ प्राप्त कर सकता है।

निरन्तर सत्सङ्ग से वासनाओं का क्षय हो जाता है। लौकिक सुखों से वैराग्य उत्पन्न होता है तथा वास्तविक आनन्द-प्राप्ति की कामना का उदय होता है। चित्त शुद्ध होता है, विचार सात्त्विक होते हैं तथा जीवन के द्वन्द्व मिटने लगते हैं।

सत्सङ्ग के दो अर्थ हैं। प्रथमत: तो सन्तों का सङ्ग तथा द्वितीयत: सूक्ष्म अर्थ साधु-सन्तों के सङ्ग से नित्य, शुद्ध, शाश्वत, अविनाशी तत्त्व के निकट पहुँचने का सरल, सुलभ मार्ग प्राप्त होना है। जीवात्मा को परमात्मा से मिलाने का कार्य भी सत्सङ्ग द्वारा ही सम्भव है।

संसार में अपना कोई नहीं है। यहाँ सभी यात्री हैं। यदि कोई अपना है तो वह केवल ईश्वर है। न कोई आपका है और न आप किसी के हैं। अपनेपन का विचार कल्पना है, मिथ्या है। जिन्हें आप अपना कहते हैं तथा अपना मानते हैं, वे माता-पिता, बन्धु-बान्धव तथा पत्नी और पुत्र एक दिन सब छोड़ कर चले जाते हैं। इसके अतिरिक्त जिसे आप बिलकुल अपना मानते हैं, जिसके लिए जीवनभर आप दौड़-धूप करते हैं, जिसकी सेवा-सुश्रूषा में जीवनभर की कमाई लगा देते हैं—

वह आपका प्रियतम शरीर भी आपसे छूट जाता है। इसे भी आप सदा अपने पास बाँध कर नहीं रख सकते। तब आप किसे अपना मान सकते हैं ?

जन्म से पूर्व भी आपका इस शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं था और मृत्यु के बाद भी इस शरीर से आपका सम्बन्ध नहीं रहना है। आप तो अलिप्त हैं, अविनाशी हैं, अमर आत्मा हैं—

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।

जब तक आप नाशवान् वस्तुओं से सम्बन्ध जोड़ते रहेंगे तब तक उनके टूटते रहने से दुःख भी भोगते रहेंगे। अतः यह दुःख स्वयं आपका कल्पित है, निर्मित है। आत्मज्ञान के द्वारा ही, सत्सङ्ग के द्वारा ही इस अविचार का, अन्धकार का विनाश किया जा सकता है।

इन बातों पर गहराई से, एकान्त में बैठ कर विचार करना चाहिए। जब तक कारण अज्ञात रहेगा, उसका उपाय नहीं मिल सकता। कारण स्पष्ट है कि अनित्य, अशाश्वत, नश्वर, परिवर्त्तनशील वस्तुओं में हम शाश्वत, नित्य तथा अपरिवर्त्तनशील, पूर्ण सुख, आनन्द को खोज रहे हैं। उदाहरणार्थ किसी अन्धेरे कमरे में काली बिल्ली को खोजना हो और वह बिल्ली पहले ही वहाँ से भाग चुकी हो। ऐसी स्थिति में जीवनभर अन्धेरे कमरे में कोई टटोलता रहे; किन्तु उसे वह बिल्ली कहाँ मिलेगी ?

हमारा सम्बन्ध जिससे है, यदि हम उसे पहचान लें तो

एक वार मिलने के पश्चात् फिर वियोग कभी नहीं होगा। हमारा धर्म, हमारी संस्कृति, हमारे ऋषियों का सन्देश पुकार-पुकार कर कहता है कि यदि तुम परम शान्ति, परमानन्द प्राप्त करना चाहते हो तो भगवत्साक्षात्कार करो।

अतः अपनी संस्कृति का, अपने धर्म का ज्ञान आप लोगों को होना चाहिए। आपके पास कितना भी धन हो, कितना भी ऐश्वर्य हो; किन्तु यदि आपकी भावना, आपकी साधना तथा आपका जीवन शून्य है, दिशाहीन है, लक्ष्यहीन है, तब आप शान्ति तथा आनन्द से वञ्चित ही रहेंगे।

जीवन का लक्ष्य आपको ज्ञात हो चुका, अब उसके लिए प्रयत्न होना चाहिए। बिना गुरु के कोई मार्ग-दर्शन नहीं कर सकता। लक्ष्य तक पहुँचने के अनेक मार्ग हैं, आप तो यात्री हैं। केवल टिकिट लेने से कोई व्यक्ति मञ्जिल पर नहीं पहुँचता। उसे यह जानना चाहिए कि किस गाड़ी में बैठना है। अतः साधक को साधना द्वारा अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते रहना है। ज्ञान तथा विवेक से, सदा सजग रह कर, आत्मपरीक्षण तथा आत्मनिरीक्षण द्वारा अपने को टटोलते रहना चाहिए।

ग्रीष्म ऋतु में कम्बल ओढ़ना तथा शीतकाल में बर्फ का पानी पीना बुद्धिमत्ता नहीं मानी जाती। एक नवविवाहिता स्त्री पुत्र की कामना करती है; ४-५ पुत्रों के बाद वह पुत्र के नाम से ही घबरा जाती है; इसका अर्थ यह है कि मनःस्थिति बदलते ही जो वस्तु आज प्रिय है, कल दुःखदायी प्रतीत होने लगती है। अतः दुःख-सुख अपनी कल्पना में है—हृदय की वस्तु है—वह कहीं बाहर से प्राप्त नहीं होगा।

आपको याद रखना चाहिए कि व्यक्ति के केवल दो ही वस्तुएँ साथ जाती हैं—पहला अच्छा-बुरा किया हुआ कार्य जो कि बीज-रूप से जीवात्मा के साथ जाता है तथा पुनर्जन्म का कारण बनता है; क्योंकि वही अन्त में स्मरण आता रहता है। गीता कहती है—

'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥'

दूसरी वस्तु वह है जिसे व्यक्ति ने जप, तप, ध्यान, पूजा, पाठ, भजन, कीर्त्तन द्वारा प्राप्त किया है।

अतः आप सदा यह विचार करते रहें कि मैं यह शरीर, मन तथा बुद्धि नहीं हूँ; इनसे परे नित्य, शुद्ध, शाश्वत, अविनाशी आत्मा हूँ। इस प्रकार आप एक दिन अवश्य ही अमरत्व को प्राप्त करेंगे।

[३१-१-७४ को सार्वजनिक सभा, भंजनगर में दिया गया प्रवचन।]

परिशिष्ट

●

साधना-तत्त्व

अर्थात्

सप्त-साधन-विद्या

(मनुष्य की शीघ्र उन्नति तथा विकास के लिए
शास्त्रोक्त साधनों का सार)

श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती

भूमिका

(क) हजारों टन सिद्धान्तों के ज्ञान से एक ग्राम भर साधनों का आचरण अधिक लाभप्रद है। इसलिए अपने जीवन में योग, धर्म एवं दर्शन-शास्त्रों में बताये हुए साधनों का अभ्यास कीजिए, जिससे मनुष्य-जीवन के चरम लक्ष्य—आत्मसाक्षात्कार—की प्राप्ति हो।

(ख) इस साधना-पट में उपर्युक्त साधनों का तत्त्व एवं सनातन धर्म का विशुद्ध स्वरूप ३२ शिक्षाओं द्वारा दिया गया है। इनका अभ्यास वर्त्तमान काल के अत्यन्त कार्यव्यस्त लोगों के लिए भी सुशक्य है। इनके समय और परिमाण में आवश्यकतानुकूल परिवर्त्तन कर लीजिए और इनकी मात्रा धीरे-धीरे बढ़ाते जाइए।

(ग) आरम्भ में इनमें से थोड़ी ऐसी शिक्षाओं के पालन का सङ्कल्प कीजिए जिनसे आपके स्वभाव और चरित्र में थोड़ा निश्चित सुधार हो। यदि किसी दिन बीमारी, सांसारिक कामों की अधिकता या किसी अनिवार्य कारण से आप निश्चित साधनों को न कर सकें तो उनके वदले यथासम्भव अधिक-से-अधिक ईश्वर-नाम-स्मरण या जप कीजिए।

(१) आरोग्य-साधना

१. मिताहार—आधा पेट खाइए। हलका और सादा भोजन कीजिए। भोजन करने से पूर्व उसे भगवान् को अर्पण कीजिए। सन्तुलित आहार लीजिए।

२. रजस्तमोवर्द्धक पदार्थों का त्याग—जहाँ तक सम्भव हो मिर्च, मसाले, इमली आदि राजसिक पदार्थों का सेवन कम कीजिए। चाय, काफी, धूम्रपान, माँस-मछली तथा शराब का सर्वथा त्याग कीजिए।

३. व्रत-उपवास—एकादशी के दिन उपवास कीजिए अथवा केवल दूध, कन्द और फल थोड़ा खाइए।

४. आसन-व्यायाम—योगासन या शारीरिक व्यायाम प्रतिदिन १५ से ३० मिनट तक कीजिए। प्रतिदिन दूर तक टहलने जाइए या श्रमदायक कोई खेल खेलिए।

(२) प्राणशक्ति-साधना

५. मौनव्रत—प्रतिदिन दो घण्टे तथा रविवार को चार से आठ घण्टे तक मौन रहिए।

६. ब्रह्मचर्य-व्रत—अपनी आयु तथा परिस्थिति के अनुसार

ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कीजिए। शुरू के महीनों में एक वार से अधिक ब्रह्मचर्य भङ्ग न करने का सङ्कल्प कीजिए। धीरे-धीरे घटा कर वर्ष में एक वार ले आइए। अन्त में जीवन भर के लिए ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा कीजिए।

(३) चरित्र-साधना

७. सत्य—सत्य, मधुर, हितकर और अल्प भाषण कीजिए।

८. अहिंसा—मन, वचन और कर्म से किसी को कष्ट न पहुँचाइए। प्राणीमात्र पर दया-भाव रखिए।

९. आर्जव—सब लोगों से सरलता, निष्कपटता और खुले दिल से वरताव तथा बातचीत कीजिए।

१०. ईमानदारी—ईमानदार बनिए। अपने परिश्रम (पसीने) से कमाई कीजिए। अन्याय तथा अधर्म से मिलने वाला किसी का धन, वस्तु या उपकार मत स्वीकार कीजिए। सज्जनता और चरित्र का विकास कीजिए।

११. क्षमा—जब आपको क्रोध आ जाय, तब उसे धैर्य शान्ति, दया, प्रेम और सहिष्णुता द्वारा दबा दीजिए। दूसरों के अपराध भूल जाइए और उन्हें क्षमा कर दीजिए। लोगों के स्वभाव और संयोगों के अनुसार वरताव कीजिए।

(४) इच्छाशक्ति-साधना

१२. मन-संयम—प्रतिवर्ष एक सप्ताह या एक महीने तक शक्कर या चीनी का और रविवार को नमक का त्याग कीजिए।

१३. कुसङ्ग-त्याग—ताश, उपन्यास, सिनेमा और क्लबों का त्याग कीजिए। दुर्जनों की सङ्गति से दूर भागिए। नास्तिक या जड़वादी से वाद-विवाद न कीजिए। ईश्वर में जिनकी श्रद्धा न हो या जो आपकी साधनाओं की निन्दा करते हों, ऐसे लोगों से मिलना-जुलना वन्द कर दीजिए।

१४. सादा जीवन—अपनी आवश्यकताओं को कम कर दीजिए। सांसारिक सम्पत्ति को भी क्रमशः घटाते जाइए। 'सादा जीवन और उच्च विचार' का अवलम्वन कीजिए।

(५) हृदय-साधना

१५. परोपकार—दूसरों की कुछ भलाई करना, यही परम धर्म है। प्रति-सप्ताह कुछ घण्टे कोई निष्काम सेवा का कार्य कीजिए। इन कामों में अभिमान या वदले की आशा न रखिए। अपने सांसारिक कर्त्तव्यों को भी इसी भावना से कीजिए। स्वधर्म और कर्त्तव्य-कर्म का ईश्वरार्पण बुद्धि से पालन करना भी एक प्रकार की पूजा ही है।

१६. दान—अपनी आय का दो से दस प्रतिशत तक दान कीजिए। आपको कोई भी अच्छी वस्तु मिले, उसको दूसरों में वाँट कर उपभोग कीजिए। सारे संसार के प्राणियों को अपना कुटुम्बी मानिए। स्वार्थ-वृत्ति का त्याग कीजिए।

१७. नम्रता—विनम्र बनिए। सब प्राणियों को मानसिक नमस्कार कीजिए। सर्वत्र ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव कीजिए। मिथ्याभिमान, दम्भ और गर्व का त्याग कीजिए।

१८. श्रद्धा—गीता, गुरु और गोविन्द में अविचल श्रद्धा

रखिए। सर्वदा ईश्वर को आत्म-समर्पण करते हुए प्रार्थना कीजिए, 'हे प्रभो, जैसी तेरी इच्छा, वैसा ही हो। मैं कुछ भी नहीं चाहता।' सब परिस्थितियों या घटनाओं में ईश्वर-इच्छा को प्रधान समझ कर अधीन हो जाइए।

१९. सर्वात्मभाव—सब प्राणियों में ईश्वर के दर्शन कीजिए और उनमें अपनी आत्मा के समान प्रेम-भाव रखिए; किसी से द्वेष न रखिए।

२०. नाम-स्मरण—सर्वदा ईश्वर का नाम-स्मरण करते रहिए या कम-से-कम प्रातःकाल सोकर उठने पर, व्यावहारिक कामों के बीच अवकाश मिलने पर और रात में सोने से पूर्व ईश्वर का स्मरण कीजिए। अपनी जेब में एक जप-माला रखिए।

(६) मानसिक-साधना

२१. गीता-ध्यान—प्रतिदिन गीता का एक अध्याय या १० से १५ श्लोक तक अर्थ-सहित अध्ययन कीजिए। मूल गीता को समझने के लिए यथेष्ट संस्कृत सीख लीजिए।

२२. गीता कण्ठस्थ करना—धीरे-धीरे सारी गीता को कण्ठस्थ कर लीजिए। गीता की एक पुस्तक सदा अपनी जेब में रखिए।

२३. स्वाध्याय—रामायण, भागवत, उपनिषद् योगवासिष्ठ या अन्य दर्शनशास्त्र या धर्म-ग्रन्थों का कुछ अंश प्रतिदिन अथवा छुट्टी के दिन अवश्य अध्ययन कीजिए।

२४. सत्सङ्ग—कथा, कीर्त्तन, सत्सङ्ग आदि में प्रत्येक

अवसर पर जाकर उनसे लाभ उठाइए। रविवार या छुट्टी के दिन ऐसे सम्मेलनों का आयोजन कीजिए।

२५. मन्दिर-गमन—किसी भी देवमन्दिर या पूजा-स्थान में प्रति-सप्ताह कम-से-कम एक दिन जाकर जप, कीर्त्तन, व्याख्यान आदि की व्यवस्था कीजिए।

२६. एकान्त-सेवन—अवकाश या छुट्टी के दिनों में किसो पवित्र स्थान में जाकर एकान्त सेवन कीजिए और सारा समय साधना में बिताइए। सन्त-महात्माओं का सत्सङ्ग कीजिए।

(७) आध्यात्मिक-साधना

२७. ब्राह्ममुहूर्त्त—रात में जल्दी सोकर प्रातःकाल चार बजे उठिए। शौच, दन्तधावन और स्नानादि से निवृत्त हो जाइए।

२८. जप, प्रार्थना और ध्यान—पद्मासन, सिद्धासन या सुखासन में बैठ कर पाँच से छः बजे तक प्राणायाम, ध्यान, जप, स्तोत्र, प्रार्थना और कीर्त्तन कीजिए। एक ही आसन में सारा समय बैठने का धीरे-धीरे अभ्यास कीजिए।

२९. सन्ध्यापूजा—अपनी दैनिक सन्ध्या, गायत्री-जप, नित्यकर्म और पूजा कीजिए।

३०. मन्त्रलेखन—अपने इष्टमन्त्र या भगवान् के नाम को प्रतिदिन १० से ३० मिनट तक एक पुस्तिका में लिखिए।

३१. सङ्कीर्त्तन—रात्रि में स्वजन, मित्र आदि के साथ बैठ कर आधा से एक घण्टा तक नामसङ्कीर्त्तन, स्तोत्र, प्रार्थना, भजन आदि का गायन कीजिए।

३२. दैनन्दिनी—उपर्युक्त प्रकार की साधना करने का सङ्कल्प कीजिए और प्रति-वर्ष नया सङ्कल्प करके साधना को बढ़ाते जाइए। नियमितता, दृढ़ना एवं तत्परता से इनका पालन करना आवश्यक है। साधना का समय, परिमाण आदि आध्यात्मिक डायरी में लिखिए। प्रतिमास उसकी समालोचना कर अपनी त्रुटियों को सुधारते रहिए।

बीस आध्यात्मिक नियम

१. प्रातः चार बजे उठो। जप तथा ध्यान करो।

२. सात्त्विक आहार करो। पेट को उचित से अधिक मत भरो।

३. जप तथा ध्यान के लिए पद्म या सिद्ध आसन में बैठो।

४. ध्यान के लिए एक अलग कमरा ताले-कुञ्जी से बन्द कर रखो।

५. अपनी आय के दसवें हिस्से को दान दो।

६. भगवद्गीता के एक अध्याय को नियमित रूप से पढ़ो।

७. वीर्य की रक्षा करो। अलग-अलग सोओ।

८. धूम्रपान, उत्तेजक मदिरा तथा राजसिक भोजन का त्याग करो।

९. एकादशी को उपवास करो या केवल दूध या फल का आहार करो।

१०. नित्यप्रति दो घण्टे के लिए तथा खाते समय भी मौन का पालन करो।

११. हर हालत में सत्य बोलो। थोड़ा बोलो, मधुर बोलो।

१२. अपनी आवश्यकताओं को कम करो। सुखी तथा सन्तुष्ट जीवन बिताओ।

१३. दूसरों की भावनाओं पर आघात न पहुँचाओ। सभी के प्रति सदय बनो।

१४. अपनी गलतियों पर विचार करो। आत्मविश्लेषण करो।

१५. नौकरों पर निर्भर मत रहो। आत्मनिर्भर बनो।

१६. प्रातः उठते ही तथा रात्रि को सोते समय ईश्वर का स्मरण करो।

१७. अपनी जेब या गले में एक माला रखो।

१८. सरल जीवन तथा उच्च विचार का आदर्श रखो।

१९. साधुओं, संन्यासियों तथा गरीब एवं रोगी व्यक्तियों की सेवा करो।

२०. नियमित डायरी रखो। अपनी दिनचर्या का पालन करो।

इन बीस शिक्षाओं में ही योग और वेदान्त का सार निहित है। इनका अक्षरशः पालन कीजिए। अपने मन को ढील न दीजिए। आपको परमानन्द की प्राप्ति होगी।

सेवा - प्रेम - दान - पवित्रता - ध्यान - साक्षात्कार

विश्व-प्रार्थना

हे स्नेह और करुणा के आराध्य देव !
तुम्हें नमस्कार है, नमस्कार है।
तुम सच्चिदानन्दघन हो।
तुम सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ हो।
तुम सबके अन्तर्वासी हो।
हमें उदारता, समदर्शिता और मन का
समत्व प्रदान करो।
श्रद्धा, भक्ति और प्रज्ञा से कृतार्थ करो।
हमें आध्यात्मिक अन्तःशक्ति का वर दो,
जिससे हम वासनाओं का दमन कर
मनोजय को प्राप्त हों।
हम अहङ्कार, काम, लोभ और द्वेष से रहित हों।
हमारा हृदय दिव्य गुणों से पूर्ण करो।
सब नाम-रूपों में तुम्हारा दर्शन करें।
तुम्हारी अर्चना के ही रूप में
इन नाम-रूपों की सेवा करें।

सदा तुम्हारा ही स्मरण करें।

सदा तुम्हारी ही महिमा का गायन करें।

केवल तुम्हारा ही कलिकल्मषहारी नाम
हमारे अधर-पुट पर हो।

सदा हम तुममें ही निवास करें।

स्वामी चिदानन्द : संक्षिप्त परिचय

श्री स्वामी चिदानन्द जी महाराज के पूर्वाश्रम का नाम श्रीधर राव था। आपके पिता श्री श्रीनिवास राव जी तथा माता श्रीमती सरोजिनी राव जी दक्षिण भारत के एक धनाढ्य ब्राह्मण थे। शिशु श्रीधर का जन्म २४ सितम्बर १९१६ को मैंगलोर (मैसूर) में हुआ। आपके अन्य चार भाई-बहन और हैं। आपका परिवार विष्णु-भक्त होने के कारण बचपन से ही आपमें भगवद्भक्ति के गहरे संस्कार पड़े हैं।

श्रीधर जी पर उनके एक आत्मीय श्री अनन्तैया जी का गहरा प्रभाव पड़ा। श्री अनन्तैया जी शिशु श्रीधर को रामायण, भागवत तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों से चुन-चुन कर भगवद्भक्ति की, भगवान् के चरित्र की अनेक कथाएँ सुनाते रहते थे। आपके फूफा श्री कृष्ण राव जी भी सदा आपको सदुपदेश दिया करते थे और मार्ग-दर्शन किया करते थे। उनका स्नेह भी आपको मिला।

आपकी प्रारम्भिक शिक्षा मैङ्गलोर के एक अंग्रेजी स्कूल में हुई। तदुपरान्त १९३२ में आपने मद्रास के मुतैया चेट्टीयार स्कूल में प्रवेश किया। आरम्भ से ही आप सरल, विनम्र तथा मेधावी थे। स्कूल के छात्र आपकी सरलता तथा सेवा-भावना से अत्यन्त प्रभावित थे। कभी-कभी आपकी बालजनोचित

सहज, स्वाभाविक चपलता भी मुग्धकारी होती थी। आप कोई ऐसा कार्य नहीं करते थे जिससे किसी को कष्ट हो—पीड़ा हो।

१९३४ में आपने मद्रास के 'लोयोला कालेज' में प्रवेश लिया तथा १९३८ में आप 'साहित्य-स्नातक' हो गये। आपका यह शिक्षा-काल ईसाई स्कूलों में ही व्यतीत हुआ और परिणाम-स्वरूप ईसाई धर्म के उज्ज्वल सिद्धान्तों के प्रति भी आपका स्वाभाविक आकर्षण रहा। अनेक ईसाई संन्तों के जीवन-चरित्र से आपने प्रेरणा ली; अतः श्रीधर जी पाश्चात्य धर्म तथा संस्कृति से भी परिचित हुए। यही कारण है कि अब श्री स्वामी चिदानन्द जी महाराज में पूर्व तथा पश्चिम के धर्म, उनकी संस्कृति तथा सभ्यता का पूर्ण सामञ्जस्य है।

आपने 'बाइबिल' के साथ अनेक भारतीय ग्रन्थों—वेद, उपनिषद्, गीता, योग-शास्त्र आदि का गहन अध्ययन किया 'जीसेस' और 'कृष्ण' आपके दो उपास्य देव थे, मार्ग-दर्शक तथा रक्षक थे। आपके लिए दोनों में अन्तर नहीं रहा।

कुष्ठरोगियों की सेवा को आपने अपने जीवन का एक आदर्श बनाया। इसके साथ-साथ बचपन के निवृत्ति के बीज अब अङ्कुरित होकर प्रस्फुटित होने लगे थे। आप गृह त्याग कर दक्षिण भारत के अनेक आश्रमों में घूमे तथा सन्तों के दर्शन किये। श्री रमण महर्षि से आप अत्यधिक प्रभावित हुए।

१९४३ में आपने लम्बी यात्रा की। हिमालय और गङ्गा की पुकार आपको ऋषिकेश खींच लायी। ऋषिकेश और

लक्ष्मणझूला के बीच, मुनिकीरेती में, उत्तराखण्ड के एक महान् तपस्वी, वीतरागी, ब्रह्मनिष्ठ, तपोनिष्ठ, प्रसिद्ध सन्त श्री स्वामी शिवानन्द जी महाराज के इन्हें दर्शन हुए। गुरु ने शिष्य को सहर्ष स्वीकार कर लिया। शिवानन्दाश्रम को एक रत्न मिल गया। गुरुदेव के मार्ग-दर्शन से इनके जीवन को गति मिली, दिशा मिली, और मिली स्थिरता।

ख्याति बढ़ने लगी। यहाँ भी कुष्ठरोगियों की सेवा में आप जुट गये। राव जी को कुष्ठरोगी भगवान् ही मानते हैं: जिनका स्पर्श करने में डाक्टर भी विचार करते हैं, झिझकते हैं, उन कुष्ठरोगियों के घावों को स्वयं अपने हाथ से धोकर, स्वच्छ करके मरहम-पट्टी करना श्रीधर जी के दैनिक कार्य का एक अङ्ग था।

१९४८ में गुरुदेव स्वामी शिवानन्द जी महाराज ने आपको 'योग-वेदान्त-आरण्य-अकादमी' का उपकुलपति तथा आश्रम का महासचिव नियुक्त किया। राजयोग के प्राध्यापक के रूप में आपने पतञ्जलि के 'योग-सूत्र' की प्राञ्जल व्याख्या कर साधकों को मन्त्रमुग्ध कर दिया। पत्र-पत्रिकाओं के लिए लेख लिखे और प्रवचनों से जिज्ञासुओं को तृप्त किया।

१० जुलाई, १९४९ को 'गुरु-पूर्णिमा' के दिन गुरुदेव स्वामी शिवानन्द जी से आप संन्यास-दीक्षा लेकर, श्रीधर राव से अब स्वामी चिदानन्द सरस्वती हो गये। 'यथा नाम तथा गुण।' जैसे गुरु, वैसे ही शिष्य। गुरुदेव का आप पर बड़ा विश्वास था। आप उनके कृपा-पात्र तथा आज्ञाकारी शिष्य थे। गुरुदेव ने आपके सम्बन्ध में लिखा है—'स्वामी चिदानन्द जी अपने पूर्व जन्म में ही एक महान् योगी थे।...यह उनका अन्तिम जन्म है।'

१९५० में आपने गुरुदेव के साथ अखिल भारत तथा श्रीलङ्का की यात्रा की, देवमन्दिरों के, सन्तों-महात्माओं के दर्शन किये, तीर्थों में स्नान किया; इसके साथ-साथ भक्तों को भी उनके निकट सम्पर्क का अवसर मिला और भक्त लोग उनके सरल, सद्व्यवहार से अत्यन्त प्रभावित हुए।

१९५९ में गुरुदेव ने अपने प्रतिनिधि के रूप में स्वामी चिदानन्द को भक्तों की जिज्ञासा शान्त करने के लिए विदेश भेजा। आपका व्यक्तित्व निखर उठा। तीन वर्ष विदेश में रह कर आपने गुरुदेव का सन्देश जन-जन को सुनाया।

१९६२ में भारत लौटते ही आप दक्षिण-भारत की यात्रा पर निकल पड़े। मन्दिरों, तीर्थों के दर्शन करते, साधु-सन्तों का सत्सङ्ग करते और भक्तों को दर्शन देते तथा प्रवचन करते आप गुरुदेव की महासमाधि के आठ दिन पूर्व ही आश्रम पधारे। यह एक अलौकिक घटना तथा गुरुदेव की आन्तरिक प्रेरणा थी।

गुरुदेव का पार्थिव शरीर समाधिस्थ होने को था। भक्तगण विलख रहे थे। पशु-पक्षी भी अश्रु वहा रहे थे। पवन शान्त था। स्वामी चिदानन्द जी मौन थे, शान्त और गम्भीर थे। सोच रहे थे—'यह शरीर तो मिटना ही था और आत्मा अमर है, तब शोक किसका और किस लिए ? फिर, गुरु तो सदा सजीव रहता है।' उन्होंने गुरुदेव का स्मरण किया और गुरुदेव उनके सामने थे,…हाँ हाँ, वे गुरुदेव ही थे, मुस्करा रहे थे कह रहे थे—'तुम किस चिन्ता में हो चिदानन्द ? क्या सोच रहे हो ? मैं तो यहीं हूँ, तुम सबके निकट हूँ!' एक प्रकाश की रेखा कौंध गयी। मोह का मानो आवरण उठ गया।

स्वामी चिदानन्द जी ने अनुभव किया—गुरुदेव वहीं थे; निश्चय ही वे वहीं थे।

गुरुदेव की महासमाधि के पश्चात् सहयोगियों तथा भक्तों के आग्रह पर तथा उनके अनुनय-विनय पर सर्वसम्मति से आपने गुरुदेव के उत्तराधिकारी के रूप में 'दिव्य जीवन सङ्घ' के परमाध्यक्ष का पद सँभाला। सङ्घ की शाखाओं को सुसङ्गठित किया, भक्तों का मार्ग-दर्शन किया तथा उन्हें सान्त्वना दी।

विश्व-शान्ति की कामना और आध्यात्मिक उन्नति की लालसा से १९६८ में एक बार पुनः यह योगी, संन्यासी, तपस्वी निकल पड़ा विश्व-भ्रमण को। एक देश से दूसरे देश में गुरुदेव का सन्देश दिया और दिव्य-जीवन-यापन का रहस्य बताया, आध्यात्मिकता का अलख जगाया। १९७० में आप पुनः आश्रम पधारे।

स्वामी विवेकानन्द के पश्चात् स्वामी रामतीर्थ और अब स्वामी चिदानन्द हैं जिन्हें संसार जानता है और जिनकी आत्मिक शक्ति को मानता है तथा भूरि-भूरि प्रशंसा करता है। १९७१ से १९७६ की अवधि में पूज्य स्वामी जी निरन्तर देश के विभिन्न भागों में आयोजित प्रान्तीय तथा अखिल भारतीय दिव्य सम्मेलनों में भाग लेने के लिए यात्राएँ करते रहे। इसी अवधि में उन्होंने अनेक बार विदेश की यात्राएँ भी कीं तथा साधकों का मार्ग-दर्शन किया।

धन्य है यह शिवानन्दाश्रम! धन्य है उत्तराखण्ड!!
धन्य है यह धरती—भारतवर्ष!!!

शिवानन्दाश्रम का दैनिक कार्यक्रम तथा सेवा का नित्यक्रम

दिव्य जीवन सङ्घ के प्रमुखालय आश्रम में व्यक्तिगत तथा सर्वसामान्य के हित और समृद्धि के लिए परम्परागत रीति से निर्दिष्ट प्रार्थनाओं के साथ दिन प्रारम्भ होता है। प्रार्थना के साथ ध्यान भी संलग्न रहता है। ४.३० से ६ बजे तक के इस प्रातःकालीन कार्यक्रम के पश्चात् मन्दिर में पूजा होती है तथा योगासन के वर्ग चलते हैं। योग तथा वेदान्त के विभिन्न विषयों तथा सामान्य आध्यात्मिक साधना के प्रशिक्षण के दैनिक वर्ग प्रातः ७ से ८ बजे तक और सायङ्काल को ४ से ५ बजे तक चलते हैं। आश्रम के ध्यान-महाकक्ष में सायङ्काल के ६ बजे से ७ बजे तक ध्यान का दैनिक वर्ग चलता है। रात्रि में ७.३० से ९.३० तक होने वाला सत्सङ्ग सार्वजनिक है और इसमें सङ्कीर्तन, भजन, प्रवचन आदि जैसे आध्यात्मिक उपगमन के सामान्य विषयों का तथा तात्कालिक स्थिति की माँग के अनुकूल कतिपय परिवर्त्तनीय विषयों का समावेश होता है।

आश्रम के स्थायी निवासियों के लिए, इन नियमित वर्गों में सम्मिलित होने के अतिरिक्त संस्था के मुद्रणालय, प्रकाशन, औषधि-निर्माण, चिकित्सालय, अन्नक्षेत्र, स्वागत, महामन्त्र का अखण्ड कोर्त्तन, मन्दिर-पूजा, पुस्तकालय, पत्रिका-वितरण

उपविभाग, शाखा तथा सदस्यता उपविभाग, निःशुल्क साहित्य, गोशाला तथा कृषि, लेखा, डाक-प्रेषण आदि जैसे विभिन्न सेवा-विभागों में अपने निर्दिष्ट कार्य होते हैं। आश्रमवासी इन सेवाओं में प्रतिदिन कई घण्टे कार्य करते हैं।

एक महत्त्वपूर्ण कार्य जो परमाध्यक्ष श्री स्वामी चिदानन्द जी महाराज मुख्य रूप से करते हैं वह है जिज्ञासुओं तथा सामान्य जनता में जीवन के उच्चतर ज्ञान के प्रसार के लिए देश के विभिन्न भागों में और कभी-कभी विदेश में सांस्कृतिक यात्राओं का कार्य।

संस्था अपनी प्रवन्धकीय प्रास्थिति में जो अन्य सेवाएँ करती है वे हैं : विद्यार्थियों की उनके अध्ययन चालू रखने में सहायता करना, वास्तविक आवश्यकता के अवसरों पर अपेक्षित रूप से दान देना, हिमालय के तीर्थस्थानों की यात्रा करने वाले निर्धन तीर्थयात्रियों को आवश्यक प्राणिक सुविधाएँ प्रदान के रूप में यथावश्यक सहायता करना। इस क्षेत्र के कुष्ठरोगियों के सहायता-कार्य में परमाध्यक्ष स्वामी जी जो गहन रुचि ले रहे हैं, वह सर्वविदित है।

संस्थापक परम पावन श्री स्वामी शिवानन्द जी महाराज का यह महान् सेवाश्रम मानव-जीवन के शारीरिक, मनोवैज्ञानिक, बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रों में मूल्यों के पुनरुत्थान पर वल देता है। श्री स्वामी शिवानन्द जी महाराज की रचनाएँ उनके जीवन-काल से ही भव्यतर विचार तथा उच्चतर जीवन यापन के लिए प्रभावशाली प्रोत्साहन का कार्य करती रही हैं।

ॐ

श्री गुरुदेव का यह आदर्श-वाक्य **'ईश्वर सर्वप्रथम, संसार उसके अनन्तर और स्वयं व्यक्ति सबसे अन्त में'** वैयक्तिकता से समाज के विशालतर विश्व की तथा विश्व से विराट् पुरुष की वैश्व सत्ता की दिशा में प्रगति करने में आदर्श मानव-आचरण की विधियों का कदाचित् समाहार प्रस्तुत करता है।

योग-वेदान्त

(हिन्दी मासिक-पत्र)

संस्थापक—परम पावन श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती

सम्पादक—श्री स्वामी चन्द्रशेखरानन्द सरस्वती

वार्षिक चन्दा : रुपये ७-००, यह पत्र शिवानन्द हिन्दी-साहित्य का अनमोल रत्न है।

'योग-वेदान्त-आरण्य-अकादमी' का मुख-पत्र होने से इसमें सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, योग और वेदान्त विषयक सुबोधगम्य सामग्री रहती है।

योग के जटिल अर्थं को साधारण जन-समाज में सरल रीतियों से समझाने के लिए यह उत्तम माध्यम है। अपने पवित्र विचारों को लेकर यह पत्र नवीन आध्यात्मिक युग की शङ्खध्वनि सुनाता है।

इस पत्र में सर्वसाधारण के लेखों को प्रकाशित नहीं किया जाता है, किन्तु अनुभव के आधार पर जो लेख लिखे गये हों और जिनके विचारों की पृष्ठभूमि ठोस और प्रामाणिक हो, ऐसे लेखों को ही इस पत्र में प्रकाशित किया जाता है। जीवनोपयोगी व्यावहारिक सिद्धान्त को प्रकट करने वाले लेख पत्र में अवश्य प्रकाशित किये जाते हैं।

यह पत्र किसी सम्प्रदाय-विशेष का प्रतिनिधित्व नहीं करता, किन्तु विश्वात्म-भावना के उद्देश्य को अङ्गीकार कर, केवल उसी सिद्धान्त का हर रीति से प्रतिपादन करता है।

योग-वेदान्त,
डिवाइन लाइफ सोसायटी, पो० शिवानन्दनगर,
जिला टिहरी-गढ़वाल (उ० प्र०)